त्रिनाथ मिश्र
कुंभ-गाथा

कुंभ-गाथा

महाकुंभ की समग्र जानकारी

कुंभ-गाथा

त्रिनाथ मिश्र

अनामिका प्रकाशन
185, नया बैरहना, इलाहाबाद

अनामिका प्रकाशन
185, नया बैरहना, इलाहाबाद
द्वारा प्रकाशित

●

प्रथम संस्करण : 1989

●

●

पियरलेस प्रिन्टर्स
1, बाई का बाग, इलाहाबाद
द्वारा मुद्रित

मूल्य : 50.00

क्रृष्णाय वासुदेवाय

हरये परमातमने,

प्रणतः क्लेश नाशाय

गोविन्दाय नमो नमः ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।।

जिन की कृपा से मेरे हृदय

में

आस्था का दीप जला,

उन

पूज्य-पाद ब्रह्मर्षि श्री देवराहा बाबा के

चरणों में

सादर सविनय समर्पित।

निवेदन

वर्ष 1976-77 में पूर्ण-कुंभ-मेला के पुलिस-प्रबंध के प्रभारी अधिकारी, वरिष्ठ पुलिस अधीक्षक, के पद पर मेरी नियुक्ति हुई थी। इस मेला-प्रबंध का कोई अनुभव तो दूर, मुझे कभी कुंभ-मेला के दर्शन का भी सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ था। अतः इस मेले के, इसके विविध-पक्षों के संबंध में जानने की मुझे उत्सुकता हुई। यह व्यक्तिगत ज्ञानवर्द्धन तथा दायित्व-निर्वाह, दोनों के लिये आवश्यक था। मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ जब इलाहाबाद के पुस्तकालयों में कुंभ-पर्व के सम्बंध में सभी पहलुओं का विवरण देने वाली कोई पुस्तक उपलब्ध नहीं हुई। 1955 में भारतीय विद्या भवन द्वारा प्रकाशित प्रसिद्ध संगीतज्ञ, कवि एवं मनीषी श्री दिलीप कुमार राय एवं उनकी शिष्या एवं सुपुत्री सुश्री इंदिरा देवी द्वारा अंग्रेजी में प्रणीत पुस्तक 'कुंभ-इंडिया'ज़ एजलेस फेस्टिवल' अवश्य मिली किन्तु इसमें मुख्यतः उनके वैयक्तिक, आध्यात्मिक अनुभूतियों का ही निरूपण प्राप्त हुआ।

इलाहाबाद नगर एवं समीपवर्त्ती क्षेत्रों के संबंध में 1906 के 'माडर्न रिव्यू,' कलकत्ता का विशेषाङ्क, श्री विश्वम्भरनाथ पांडेय की पुस्तक एवं श्री शालिग्राम श्रीवास्तव के 'प्रयाग-प्रदीप' में विस्तृत विवरण मिले किन्तु, इनमें कुंभ-मेलों का विवरण अत्यंत संक्षेप में दिया गया है। 'जिला गजेटियर' में भी सभी विवरण नहीं हैं। आश्चर्य तो यह है कि इसका विवरण 'हिन्दी विश्वकोष' में भी प्राप्त न हो सका। 'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' में एक संक्षिप्त टिप्पणी ही उपलब्ध हो सकी।

कुंभ के संबंध में सबसे प्रामाणिक एवं विस्तृत विवरण उपलब्ध हो सके 1954 की दुर्घटना के कारणों की जाँच करने वाले न्यायिक आयोग की रिपोर्ट में, लेकिन इसमें भी कुंभ-पर्व के सभी पक्षों का विवेचन नहीं मिलता। इस आयोग-आख्या का उद्देश्य यह था भी नहीं।

चूंकि एक स्थान पर सभी सम्बद्ध सामग्री नहीं मिली अतः इलाहाबाद पब्लिक लाइब्रेरी एवं अन्य पुस्तकालयों में उपलब्ध विभिन्न सामग्रियों से ही

मुझे अपनी प्यास बुझानी पड़ी। 1988-89 में जब कुंभ पुनः आया तो मेरे सहयोगी एवं इस मेले के पुलिस-प्रबंध के वरिष्ठ पुलिस अधीक्षक श्री विभूति नारायण राय ने मुझसे आग्रह किया कि इस पर्व के सम्बन्ध में बारह वर्ष पूर्व संकलित तथ्य एवं सूचनाओं के आधार पर मैं एक पुस्तिका लिखने का प्रयास करूँ। उनके इस आग्रह का फल यह 'कुंभ-गाथा' प्रस्तुत है।

इस पुस्तक में प्रकाशित सामग्री के संबंध में मैं किसी मौलिकता का दावा नहीं कर सकता। विभिन्न लिखित एवं मौखिक स्रोतों से जो तथ्य मुझे 12 वर्ष पूर्व मिले थे उन्हीं को अद्यतन रूप में मैंने प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। स्रोतों की नामावली की स्मृति न होने के कारण मैं उनका उल्लेख कर नहीं सकता पर मैं हृदय से उनका कृतज्ञ हूँ। मैं इस पुस्तक के प्रकाशक श्री विनोद कुमार शुक्ल का आभारी हूँ जिन्होंने अत्यल्प समय में इसके मुद्रण एवं प्रकाशन की व्यवस्था की।

कुंभ-पर्व में दान-पुण्य की महिमामयी परम्परा है अतः मैंने निश्चय किया है कि इस पुस्तिका के विक्रय से जो भी आय होगी वह मैं उ० प्र० पुलिसजनों के कल्याणार्थ स्थापित उ० प्र० पुलिस 'वेलफ़ेयर फण्ड' में सुपात्रों में वितरणार्थ जमा कर दूंगा। जिन सहयोगियों की सहायता से 1976-77 के महाकुंभ-पर्व का निर्विघ्न एवं सफल संचालन करने का श्रेय मुझे मिला था, उनके प्रति धन्यवाद ज्ञापित करने का मेरा यह अकिञ्चन् प्रयास मात्र है।

त्रिनाथ मिश्र

प्रयाग : पौष पूर्णिमा
(21 जनवरी 1989)

भूमिका

कुम्भ-पर्व आत्ममंथन को समुद्रमंथन का रूपक देकर एक पौराणिक काव्य-कल्पना को लोकव्यापी आयाम देने में सहस्राब्दियों तक सफल रहा है। जिस ऋषि-प्रणीत सांस्कृतिक जीवन-धारा ने इसे संभव बनाया है वह प्रणम्य है। अविश्वासी भी स्नानार्थियों तथा श्रद्धालुओं की निष्ठा, सहनशीलता और उत्सर्ग भावना के आगे प्रणत हो जाता है। जनधारा और जलधारा का संगम मुझे त्रिवेणी का ही परिविस्तार दिखायी देता है। विरोध की भाषा स्वयं आत्म-चिन्तन की भाषा बन जाती है और वही इस देश की संस्कृति का मूलाधार रही है। मानववादी दृष्टि अध्यात्मवाद और भौतिकवाद दोनों की अति-रंजनाओं तथा विडम्बनाओं को संतुलित बनाने की शक्ति रखती है अतः उसे सर्वोपरि महत्ता देना उचित है। मानवता का जो रूप मनुष्य को संस्कृति और इतिहास का केन्द्र मान कर विकसित हो रहा है वह नये मनुष्य की प्रतिष्ठा के लिए संकल्पशील है। धर्म और धर्मनिरपेक्षता के द्वन्द्व का वही समाहार कर सकता है। उसी से प्रासंगिकता का सही परिपेक्ष उभरता है।

'कुम्भ क्यों' के रूप में 'कुम्भ-गाथा' के लेखक ने कुम्भ की प्रासंगिकता का प्रश्न उठाकर उसका जिस प्रकार उत्तर दिया है, वह द्रष्टव्य है—

'...नैसर्गिक प्रवृत्तियों के सहारे ही जीवन-यापन करना नहीं चाहता है। वह चाहता है इनसे ऊपर उठकर कुछ अन्य तत्वों को उपलब्ध करे। अपनी अलग पहचान बनाये। उसकी यह अदम्य इच्छा ही संस्कृति को जन्म देती है।...कुम्भ पर्व भारतीय व्यक्ति को भारत की समष्टि से जोड़ने की परम्परा का एक अंग है। वैज्ञानिक एवं औद्योगिक विकास सुख-सुविधा के नए उप-करण तो जुटाता है पर मनुष्य से मनुष्य को भावनात्मक रूप से जोड़ नहीं पाता। प्रचार एवं प्रसार के साधन सूचनाओं का आदान-प्रदान करते हैं, उनके द्वारा मानव-हृदय की उष्मा दूसरे व्यक्ति तक नहीं पहुँचाई जा सकती है।' (पृ० 115)

उन्होंने प्रासंगिकता के कई तर्क दिये हैं पर यह सर्वोपरि है और लोगों

को पुनर्विचार की प्रेरणा भी देगा। किन्तु मेरे भीतर एक दूसरा प्रश्न उठता है और वह यह कि प्रासंगिकता सर्वोपरि मूल्य नहीं है। भारत वर्ष ने 'स्थिति' और 'गति' दोनों का सूक्ष्म विचार किया है और उसकी दृष्टि शाश्वत से विमुख नहीं हुई है, भले ही गतिशीलता का महत्व बढ़ गया हो। मनुष्य एक आन्तरिक संतुलन में जीवित रहता है जिसका बाहरी परिवेश से ताल-मेल बनाना दुष्कर होता है। संस्कृति इसी प्रक्रिया से उपजती है और स्थायी मूल्यों को गतिशील बनाने का असाधारण दायित्व वहन करती है। साथ ही गतिशीलता को स्थायी बनाने का उपक्रम भी करती है। जीवन और कला की लयात्मकता इसी में निहित रहती है और दोनों का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध ही जीवन्तता का आधार बनता है।

लेखक रूप में निजी संस्कार, दर्शन, पुराण, इतिहास, ज्योतिष, समाज, शास्त्र, राजकीय व्यवस्था तथा लोक-सम्पृक्ति के विविध पक्षों का 'कुम्भ-गाथा' में अन्वेषणपूर्ण नया समावेश हुआ है जो बहुतों की ज्ञान-पिपासा शान्त करने में सक्षम होगा। स्वयं मुझे बहुत सी नयी जानकारी मिली है जैसे 'त्रिस्थली-सेतु' नामक नारायण भट्ट रचित प्राचीन पुस्तक का नाम तो मुझे ज्ञात था पर 'कुम्भ-दर्शन' लिखते हुए वह मुझे उपलब्ध न हो सकी। मिश्र जी ने उसका ही नहीं अन्य अनेक अल्प-लभ्य ग्रंथों का उपयोग करके 'गाथा' को समृद्धि प्रदान की है। ब्रह्माण्डपुराण से त्रिवेणी की तीन धाराओं से बने छहों तटों के द्योतक 'षटकुले' की व्याख्या हो अथवा जटाओं को शिव की अलकों के रूप में 'शिवालिक' की काव्यात्मक प्रतीति हो, सराहनीय कार्य किया है। इस पुस्तक के परिशिष्ट में महात्म्य का समावेश, उपादेय है और गंगा तथा प्रयाग की महिमा के व्यापक रूप का भी बोध कराता है जो उसके लेखन में आद्यन्त व्याप्त है। पूर्वार्ध तत्त्व चिन्तनपरक है, उत्तरार्ध उपयोगी सूचनाएँ देता है। प्रस्तुति में भी गंगा जमुनी रूप साफ़ देखा जा सकता है।

'कुम्भ-पर्व' में परिचयात्मक दृष्टि से जो कुछ लिखा गया है उसमें 'तमिल-नाडु के कुम्भकोणम् तथा वृन्दावन में भी कुम्भपर्व मनाने की प्रथा' का उल्लेख किया गया है और इस पर खेद प्रकट किया गया है कि इन्हें सार्वभौम मान्यता नहीं प्राप्त हुई हैं। कुम्भकोणम् का संदर्भ तो मुझे पहले से ही ज्ञात था और मैंने अपने 'कुम्भदर्शन' में उसे विशेष महत्त्व दिया है क्योंकि वह उत्तर-दक्षिण की एकता सिद्ध करता है जो सदा अभीष्ट रहा है पर वृन्दावन के विषय में कुम्भ का संदर्भ मुझे ज्ञात नहीं है। केवल नंदगाँव में जाकर इतना ही सुना कि प्रयाग में धोये गये पापों का प्रक्षालन करने स्वयं प्रयाग वहाँ के राधा-कृष्ण नामाख्य कुंडों में स्नान करके सार्थक होता है। 'गंग तौ पाँय को धोवन है जमुना है सदा हरि की पटरानी।

'शताध्यायी' के अनुशीलन से कुम्भकोणम का दूसरा संदर्भ जो द्वादश-वर्षीय कुम्भ से भिन्न, पाप-प्रक्षालन-क्रम से सम्बद्ध है, मुझे महत्त्वपूर्ण और उल्लेखनीय लगा। नीचे वे श्लोक उद्धृत कर रहा हूँ—

अन्य क्षेत्रे कृतं पापं पुण्य क्षेत्रे विनश्यति।
पुण्यक्षेत्रे कृतं पापं कुम्भकोणे विनश्यति ॥८॥
कुम्भकोणे कृतं पापं वाराणस्यां विनश्यति
तत्रापि यत्कृतं पापं प्रयागे तद्विनश्यति ॥९॥

—पूर्वार्ध, अध्याय—३

इस भूमिका में जो कुछ नहीं लिख पाया हूँ वह मेरे रेखा-चित्र पूरा कर देंगे जो इस पुस्तक में कई जगह समाहित हैं।

—डॉ० जगदीश गुप्त

1

कुंभ-पर्व

आस्था और विश्वास का सजीव स्वरूप कुंभ-पर्व भारतवर्ष के प्राचीनतम पर्वों में से एक है। प्रत्येक बारहवें वर्ष यह पर्व प्रयाग, हरिद्वार, उज्जैन एवं नासिक में मनाया जाता है। इसका आयोजन न तो कोई व्यक्ति करता है और न ही कोई संस्था। उक्त स्थानों में एकत्रित होने के लिए न किसी को सूचना दी जाती है, न निमंत्रण। कोई प्रचार भी नहीं किया जाता। भारतीय जन-मानस में कुंभ पर्व के प्रति ऐसी अटूट आस्था है कि उसी आस्था की डोर पकड़े देश के विभिन्न जन-प्रान्तर से विशाल जन-समूह इन स्थानों पर सदियों से आता रहा है। राजा और रंक, संन्यासी एवं गृहस्थ वृद्ध-युवा, ग्रामीण-नागरिक, स्त्री-पुरुष सभी इस मोक्ष-दायी पर्व में भाग लेते रहे हैं। विभिन्न भाषाओं, विभिन्न स्वरों, विभिन्न वेष-भूषाओं, विभिन्न विश्वास-आस्थाओं, विभिन्न मत-मतान्तरों एवं विभिन्न आचार व्यवहारों के लोग यहाँ मिलते हैं। यहाँ सहज ही भारत की विराटता का दर्शन सुलभ है। कुंभ भारत की अनेकता में एकता एवं विविधता में समरसता का जीवन्त उदाहरण है। कुंभ की पौराणिक कथा समुद्र-मंथन की गाथा से सम्बद्ध है। कथा है कि देव एवं दैत्य दोनों ने अमृत-अन्वेषण के लिए तीन लोकों को छान मारा किन्तु अमृत-प्राप्ति न हुई। वे पितामह ब्रह्मा के पास गए जिन्होंने परामर्श दिया कि दोनों मिल कर रत्नाकर को मथें। जिस प्रकार दधि-मंथन से नवनीत की उपलब्धि होती है, रत्नों के भंडार, सागर के मंथन से अवश्य उन्हें अभीष्ट लाभ होगा। उनकी बात मान कर मंदराचल को मथानी और नागराज वासुकि को रस्सी बनाकर देवताओं एवं दैत्यों ने भीषण समुद्र-मंथन का अनुष्ठान किया। उनके इस मंथन से समुद्र उद्वेलित हो उठा। सर्वप्रथम प्रकट हुआ भयंकर विनाशकारी कालकूट विष जिसे जगत-हित-हेतु भगवान शंकर ने अपने कण्ठ में धारण कर लिया

और नीलकण्ठ कहलाए। कौस्तुभ-मणि, लक्ष्मी, उच्चैश्रवा अश्व, गजराज ऐरावत, वारुणी आदि अनेक अलभ्य रत्नों के पश्चात् अपने करों में अमृत-पूर्ण-सुवर्ण-कुंभ लेकर निकले स्वयम् पीयूषपाणि वैद्यराज धन्वन्तरि। ज्यों ही अमृत कलश बाहर आया, चतुर्दिक शांति सुख एवं प्रसन्नता की बयार चलने लगी। देवों एवं दैत्यों की क्लान्ति दूर हो गई एवं अमरत्व-लाभ की आशा से वे उल्लसित एवं हर्षित हो उठे।

देवराज इन्द्र ने प्रारम्भ से ही यह योजना बना रखी थी कि दैत्यों को किसी भी हालत में अमृत-भाग न मिले। दैत्य शक्ति एवं सामर्थ्य में पूर्वतः ही प्रचण्ड थे। यदि उन्हें अमरत्व मिल जाता तो देवताओं को कहीं रहने का ठिकाना ही नहीं मिलता। अतः उन्होंने अपने पुत्र जयन्त को नियुक्त किया था कि अमृत-घट दीखते ही वह उसे ले भागे। देव-गुरु बृहस्पति, चंद्रमा, सूर्य एवं शनिदेव उसकी सहायता के लिए नियुक्त किए गये थे।

जब तक दैत्य संभलते, पिता का संकेत पाकर जयन्त अमृत-कलश लेकर भाग निकला। असुर हत-प्रभ हो देखते रह गए। इसी अमृत-प्राप्ति की अभिलाषा के पीछे उन्होंने पूर्वोपलब्ध सभी वस्तुओं को देवों को देने में आना-कानी नहीं की थी। हतप्रभ, क्लान्त एवं चिन्तित वे अपने गुरु शुक्राचार्य की शरण में गए। शुक्र थे तो काने, लेकिन उनकी एक आँख दूर की नजर रखती थी। उन्होंने जयन्त का संधान कर दैत्यों को ललकारा—जयन्त अमृत घट लिए पूर्व दिशा की ओर भागा जा रहा है। तेजी से पीछा करो और अपनी अभीप्सित वस्तु प्राप्त करो।

दैत्यों में जैसे नई जान आ गई। प्राण-पण से उन्होंने जयन्त का पीछा किया। यह देख देवता असुरों को रोकने के लिए दौड़े। देवों एवं दनुजों में भयंकर देवासुर संग्राम प्रारम्भ हुआ। संग्राम के बावजूद दैत्यों ने जयन्त का पीछा न छोड़ा और बारह बार उससे कलश झपटने की कोशिश की। आठ बार यह प्रयत्न अंतरिक्ष में सागर के ऊपर हुआ और चार बार धरती-तल पर। इस छीना-झपटी के दौरान अमृत की कुछ बूंदें धरती पर पड़ीं। जिन स्थानों में यह बूंदें पड़ीं वे हैं—प्रयाग, हरिद्वार, उज्जैन एवं नासिक। इन्हीं स्थानों पर अमृतोत्सव कुंभ-पर्व

के नाम से मनाया जाता है। कुल बारह स्थानों पर ये सुधाकण छलके। उनमें से आठ देवलोक में स्थित हैं। मानवों की सद्‌गति हेतु उपरोक्त चार स्थान पवित्र भारत-भूमि में हैं।

दैत्य इंद्रकुमार जयन्त के हाथों से कलश छीन ले जाते यदि पूर्व नियोजित संयुक्त देव-ब्यूह ने उनकी सहायता न की होती। सूर्य ने कलश को फूटने से बचाया, देवाचार्य वृहस्पति ने इसे दैत्यों के हाथों में जाने से बचाया तथा चन्द्रमा ने छलक कर रिक्त होने से। इसलिए इस पर्व में उनकी विशिष्ट स्थिति रहती है।

इस कथा के कई विभिन्न रूप भी मिलते हैं। कहीं वृहस्पति आदि द्वारा कलश लेकर भागने की बात कही गई है।

यह देवासुर संग्राम बारह दिनों तक चला और इसका पटाक्षेप हुआ भगवान के मोहिनी-स्वरूप के हाथों कौशल से देवताओं के अमृत-पान द्वारा। देवताओं का एक दिन मनुष्य के एक वर्ष के समकक्ष होता है। अतः अमृत-कलश से सुधा-बिंदुओं के छलकने की जयन्ती बारह-वर्षों बाद आती है। चूंकि चारों स्थानों में बारी-बारी कलश से पीयूष-वर्षण हुआ था अतः प्रत्येक तीन वर्ष पर क्रमशः इन चारों स्थानों में कुंभ-पर्व मनाया जाता है। प्रयागराज तीर्थराज हैं, हरिद्वार हरि एवं हर दोनों की कृपा से अभिभूषित है अतः वहाँ पर छः वर्षों पर अर्द्ध-कुंभ पर्व होता है। प्रयागराज का स्थान तीर्थराज होने के कारण सर्वोपरि है अतः यहाँ के अर्द्धकुंभ की भी एक विशेषता है। संन्यासियों एवं वैरागियों के अखाड़ों का शाही जुलूस व स्नान प्रयाग के अर्द्धकुंभ में ही होते हैं, अन्यत्र नहीं।

तमिलनाडु के कुंभकोणम् तथा वृन्दावन में भी कुंभ-पर्व मनाने की प्रथा है किन्तु इन्हें सार्वभौम मान्यता प्राप्त नहीं हुई है।

कुंभ के इस पौराणिक कथानक की आधुनिक इतिहासवेत्ता एक नई एवं तर्कसंगत व्याख्या करते हैं। उनके अनुसार जब आर्यों की दोनों, ईरान एवं सप्तसिंधु स्थित, शाखाएँ समुद्र तट पर पहुँचीं तो दोनों में समुद्र के रत्नों एवं सुदूर देशों से व्यापार की होड़ लगी। दोनों विभिन्न दिशाओं में अपने जलपोतों में चले। दोनों द्वारा एकत्र किए गए तत्वों से रसवेत्ता धन्वन्तरि ने अमरत्त्व प्रदान करने वाले रसायन का निर्माण किया। जब असुरों ने—ईरान स्थित आर्य

समुदाय ने, इस रसायन की निर्माणविधि एवं रसायन का अंश चाहा तो देवों ने—सप्तसैंधव—आर्यों ने, इन्हें छिपाने के लिए अपने विश्वस्त गणों की संरक्षा में भारत के मध्य-भाग में भेज दिया। जिन-जिन स्थानों में यह अमृत-रसायन रखा गया वही कालांतर में कुंभ-पर्व-स्थल बन गए।

ईरानियों के हाथ धन्वन्तरि ने वारुणी सौंपी, जिसका स्वाद तो अमृतोपम था किन्तु प्रभाव तामसिक था। प्राचीन मगकालीन फारस में इसीलिए वारुणी को धार्मिक महत्व प्राप्त था एवं उनकी मधुशाला पूजास्थली के सन्निकट स्थित रहा करती थी। उनके पुजारी ही सुरा-स्रवन का कार्य करते थे। इसीलिए उन्हें "पीरे मुगाँ' कहते थे। यही कारण है कि फारसी साहित्य में "मधुपान" की बड़ी महत्ता रही है।

तंत्र-शास्त्र इसकी एक अनूठी ही व्याख्या करता है। उसके अनुसार मेरुदण्ड ही मंदराचल है, उससे लिपटे स्नायु ही वासुकि है, उर्ध्वगामिनी श्रेयस्करी प्रवृत्तियाँ देवता-स्वरूप हैं और अधोगामिनी प्रेयस्करी प्रवृत्तियाँ दैत्य-स्वरूप हैं। दोनों प्रवृत्तियाँ अंतरतल-स्वरूप सागर का मंथन करती हैं। यदि योगी मूलाधार बंध को कमठरूप दे दे, तो जिस प्रकार दही ने मथने से नवनीत ऊपर निकल आता है, अमृत भी मस्तक स्थित सहस्रार से निकल कर ब्रह्मरंध्र से झरता हुआ कुंभ—योगी के शरीर, में भरता है।

कुंभ का सामान्य अर्थ है घड़ा। अमृत-घट अथवा कलश के आधार पर इस पर्व को यह संज्ञा मिली। कुंभ अथवा घट का दूसरा अर्थ है मानव-शरीर। यह घट मनुष्य के आत्म-सलिल को ब्रह्म के व्यापक जल-प्रवाह से पृथक् करता है। जो व्यक्ति इस तथ्य को जानता है वह इस कुंभ के मृदा-आवरण, व्यक्ति के अहम् का नाश कर अपने को ब्रह्म के साथ अथवा समष्टि के साथ एकाकार कर देता है। कबीर इसी का वर्णन करते हुए कहते हैं—

"कुंभ में जल है, जल में कुंभ है, बाहर भीतर पानी।
फूटा कुंभ जल-जल ही समाना, यह तत्त कहे गियानी॥"

कुंभ-पर्व में संत कबीर द्वारा उल्लिखित यह ज्ञान सहज ही प्राप्य है। मानवों के इस महासमुद्र में व्यक्ति अपने आपको सहज ही समष्टि

में लीन कर देता है। हरिनाम का अनवरत संकीर्तन, शंख, घंटा घड़ियाल से गुंजित वातावरण, धूप-दीप-चंदन, हवन-पूजन आदि से सुगंधित वायु-मंडल एवं गंग-यमुना की पुण्य-सलिल-धाराओं को छूकर आने वाली हवा के झोंके उसे इस मायाविष्ट भौतिक संसार से उठाकर दिव्यलोक में ले जाते हैं।

कुंभ-पर्व का विधान—

कुंभ-गाथा में वर्णित कलश-रक्षा सूर्य, वृहस्पति एवं चंद्रमा ने जिन स्थितियों में की थी, उन्हीं स्थितियों के पुनर्योग पर कुंभ-पर्व प्रयाग, हरिद्वार, उज्जैन एवं नासिक में मनाया जाता है। नासिक गोदावरी तट पर स्थित है, उज्जैन शिप्रा तट पर, हरिद्वार गंगा तट पर एवं प्रयाग गंगा-यमुना एवं सरस्वती के संगम पर। ये सभी अपने आप में पुण्य क्षेत्र एवं पावन तीर्थ हैं। अमृत-बिंदु का संस्पर्श इनके लिए सोने में सुगंध की बात हो गई है।

राशियों में स्थिर राशि वृष, मेष, सिंह, वृश्चिक तथा कुंभ हैं। कुंभ पर्व का नियामक ग्रह वृहस्पति जब इन राशियों के कक्ष में प्रविष्ट होता है तभी कुंभ-पर्व प्रकट होता है।

वृहस्पति अत्यंत प्रभावपूर्ण एवं मंगलप्रद ग्रह माना गया है। अलग-अलग राशियों एवं लग्नों में यह विभिन्न फल-प्रदायक माना गया है। इन पर्वों की शुभ तिथि में यह ग्रह-स्थिति सरिता-धाराओं को औषधियुक्त एवं मंगलकारिणी बनाती है। ऐसी सर्वमान्य धारणा है। यह अवसर प्रत्येक राशि के लिए 12 वर्षों में एक बार उपस्थित होता है।

उपरोक्त चार तीर्थों में कुंभ-पर्व के विधान का निरूपण स्कन्द-पुराण में किया गया है। इसके अनुसार जब सूर्य मेष राशि पर हो और वृहस्पति कुंभ में तब गंगाद्वार अथवा हरिद्वार में गंगातट पर कुंभ-पर्व का योग बनता है। यह योग वैशाख मास में पड़ता है। इसी-लिए सामान्य जन-भाषा में हरिद्वार कुंभ-पर्व को वैशाखी-स्नान पर्व भी कहा जाता है, इसे 'कुंभस्थ' पर्व भी कहा जाता है। और चंद्र-सूर्य मेषस्थ तो शिप्रा-तट पर उज्जयिनी (उज्जैन) में कुंभ-पर्व मनाया जाता है। जब वृहस्पति सिंह राशि में स्थित होता है। इसे 'सिंहस्थ' मेला भी कहते हैं।

दक्षिण-गंगा गोदावरी तट पर स्थित नासिक तीर्थ में कुंभ योग तब आता है जब देवगुरु वृहस्पति वृश्चिक राशि में हों एवं चंद्रसूर्य भी सिंहस्थ हों।

जब चंद्र एवं सूर्य मकर राशि में हों एवं वृहस्पति मेष अथवा वृष राशि में प्रवेश करें तब अमावस्या की तिथि को प्रयागराज में कुंभ महापर्व की अवतारणा होती है—

"माघे मेषगते मकरे चन्द्र-भास्करौ।
अमावस्या तदा योगः कुंभाख्यस्तीर्थ-नायके॥
मकरे च दिवानाने ह्य जगे च वृहस्पतौ।
कुंभ योगो भवेत्तत्र प्रयागे ह्यति दुर्लभः॥"

पुनश्च—मकरे च दिवानाथे वृष-राशि गतं गुरौ।
प्रयागे कुंभ योगो वै माघ मासे विधुक्षये॥

चंद्र और सूर्य प्रतिवर्ष माघ मास में मकरस्थ होते हैं। भारतीय संवत् की यह तिथि मकर-संक्रांति निश्चित है। अन्य तिथियों में परिवर्तन होता रहता है, इसकी स्थिति नहीं बदलती। सूर्य एवं चंद्र की इस स्थिति के कारण प्रयागराज में माघ-स्नान की बड़ी महत्ता है। प्रत्येक वर्ष माघ-मास में यहाँ कल्पवास एवं स्नानार्थ माघ मेला लगता है। वृहस्पति द्वादश राशियों में संचरण करते हुए प्रत्येक बारहवें वर्ष वृष या मेष राशि में जब माघ मास में आते हैं तब कुंभ-योग समुपस्थित होता है। मकर की प्रधानता के कारण इसे मकर-पर्व के नाम से भी पुकारा जाता है।

यह सामान्य लोक विश्वास है कि गुरु एक राशि में एक वर्ष स्थित रहता है और चंक्रमण करता हुआ बारहवें वर्ष में पुनः उसी राशि में पहुँच जाता है। खगोलीय गणना के अनुसार वस्तुतः वृहस्पति 4332.5 दिनों अर्थात् 11 वर्ष 11 मास एवं 27 दिवसों में द्वादश-राशि-चक्र की परिक्रमा परिपूर्ण कर लेता है। इस कारण बारह सालों में 50.5 दिनों की कमी पड़ती है और आठवें कुंभ-पर्व के पड़ने का समय आते-आते लगभग एक वर्ष की न्यूनता आती है। वर्ष 1965 में यही स्थिति आई थी। वर्ष 1954 के बाद सामान्यतः 1966 में कुंभ का आयोजन होना चाहिए था किन्तु उक्त कारणों से विद्वत्-परिषद् ने 1965 में ही आयोजन का निर्णय दिया था। यद्यपि ज्यो-

तिषीय दृष्टि से यही उचित था किन्तु साधु-समाज, अखाड़ों एवं जन-मानस ने इसे स्वीकार नहीं किया और फलस्वरूप 1965-1966 दोनों वर्षों में कुंभ-पर्व प्रयाग में मनाया गया। किन्तु परवर्ती कुंभ की गणना 1965 को ही आधार मानकर 1977 में मनाया गया।

प्रयाग में द्वादश-वर्षीय अवधि ही मुख्य आधार है। वृहस्पति यदि वृषस्थ भी हों तो कुंभ-पर्वायोजन मान्य है। 1989 में वृहस्पति वृषस्थ हैं।

"देवानां द्वादशाहोमिर्गत्यै द्वादिशं वत्सरैः।
जायन्ते कुंभ पर्वाणि तथा द्वादशया॥"

कई विद्वान बारह वर्षों के अंतराल की एक आध्यात्मिक व्याख्या भी देते हैं। उनके अनुसार मनुष्य के शरीर में बारह अंश प्रमुख हैं— पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पांच कर्मेन्द्रियाँ, एक बुद्धि एवं एक चित्त। इन बारहों शरीरांगों को संयमित करने से ही अजस्र-आनन्द-धारा इस शरीर-घट को परिपूरित करती है। इन्द्रिय-जनित भौतिक हर्ष-विषाद पर विजय ही अमृतोपलब्धि है। यही कुंभ-पर्व है।

"पर्व" शब्द का मूल तात्पर्य है "गाँठ"। ईख या बांस की गाँठ को भी पर्व कहते हैं। जिस प्रकार अन्य प्रकृत वस्तुओं में गाँठें निश्चित एवं समान अंतर पर आती हैं, उसी प्रकार ज्योतिषीय विधान के अनुसार जो त्यौहार निश्चित ग्रह-स्थिति पर आते हैं उन्हें "पर्व" की संज्ञा दी जाती है।

एक कहावत है कि किसी कार्य को यदि सुनिश्चित करना हो तो उसके नाम गाँठ बांध लेना चाहिए। इन पर्वों में भी मनुष्य सत्कर्म हेतु गाँठ बांध लेता है।

सांसारिक गृहस्थों के लिए उपरोक्त स्थिति प्राप्त करना सहज नहीं है किन्तु कुंभ मेले के समय साधु-समाज, विद्वान एवं भक्तगणों के सत्संग के द्वारा वह आत्मिक सुख अवश्य प्राप्त कर सकता है। इसी हेतु इस विराट कुंभ-पर्व की व्यवस्था भारतीय धर्माचार्यों ने की।

कुंभ पर्व का आयोजन कब से प्रारम्भ हुआ, इसका कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं है। शुक्ल यजुर्वेद में "कुंभ" शब्द का उल्लेख हुआ है। इसे सर्वपाप-विनाशी एवं सद्यः—फलदायी एवं पितरों को चरमोत्तम

सुख देने वाला विधान बताया गया है। अथर्ववेद में चार कुंभों का उल्लेख—"चतुरः कुम्भांश्चतुर्धा ददाभि", मिलता है। अथर्व यह भी स्पष्ट करता है कि यह पर्व व्योम-मण्डल में ग्रहराशि के योग के कारण समय-समय पर विभिन्न तीर्थों में आता है—

"पूर्ण कुंभोऽधिकाल अहितस्तं वै पश्यामो बहुधानु संतः।
सइमा विश्वा-भुवनानि कालं तमाहु परमे व्योमन।।"

किन्तु परवर्ती साहित्य में इसका वर्णन नहीं मिलता।

महाभारत में प्रयाग के मकर-स्नान की बड़ी महिमा गाई गई है। स्वयं ब्रह्मा उसकी महिमा का निरूपण करने में अक्षम हैं, यह कहा गया है। महंत श्री लालपुरी जी के अनुसार भारत के स्वर्णिम युग गुप्त-काल में इस पर्व को सुनियोजित स्वरूप दिया गया। ये बातें ग्राह्य तो प्रतीत होती हैं किन्तु प्रमाण-सिद्ध नहीं हैं।

कुंभ-पर्व का प्रथम प्रामाणिक वर्णन ह्वेन-सांग के यात्रा-विवरण में उपलब्ध होता है। यह मनस्वी चीनी बौद्ध-श्रमण सम्राट हर्षवर्धन के समय (617-647 ई०) में भारत में आया था। सम्राट ने इसे अपना अतिथि स्वीकार किया था और उसे अपने विभिन्न धार्मिक अनुष्ठानों में सम्मिलित किया था। उसके अनुसार प्रत्येक पाँच वर्षों में महाराज शीलादित्य हर्षवर्धन त्रिवेणी पर एक वृहत् धार्मिक अनुष्ठान में भाग लिया करता था, जहाँ वह इस अवधि में अर्जित अपनी सारी सम्पत्ति स्थानीय एवं प्रवासी विद्वज्जनों, पुरोहितों, साधुओं, श्रमणों, श्रावकों, भिक्षुकों, विधवाओं एवं असहाय व्यक्तियों को दान में बांट दिया करता था। वह अपने राजसी वस्त्र-भूषण तक बांट देता था और अपनी सहोदरा राज्यश्री से मांग कर कपड़ा पहनता था। हर्ष सर्वप्रथम करुणा-मूर्त्ति गौतम बुद्ध की उपासना कर बौद्ध भिक्षुओं एवं श्रमणों को, द्वितीयतः सूर्य की उपासना कर ब्राह्मणों, साधुओं एवं पुरोहितों को, तृतीयतः शिव की उपासना कर संन्यासियों एवं विद्वानों को एवं तदुपरान्त जिन-देव की उपासना कर जैन श्रावकों एवं साध्वियों को एवं अंत में सामान्य भिक्षुकों एवं याचकों को अपने दान से धन्य करता था।

ह्वेनसांग के अनुसार जो पर्व उसने वर्ष 644 ई० में देखा वह हर्ष का छठवां आयोजन था। "कुंभ" संज्ञा का उसने कोई उल्लेख

नहीं किया है। संभव है प्राचीन कुंभ-पर्व को ही बौद्धकाल में इस 'महादान-पर्व'' का रूप दे दिया गया हो।

वर्तमान कुंभ-पर्व की व्यवस्था का प्रारम्भ जगद्गुरु आदि-शंकराचार्य के काल का माना जाता है। बौद्ध-विचारकों को शास्त्रार्थ द्वारा पराजित करके उन्होंने पुनः सनातन वैदिक-धर्म की विजय-पताका भारत में फहराई। उनके पट्टशिष्य श्री सुरेश्वराचार्य ने धर्म-रक्षा हेतु उनके निर्देशानुसार दशनामी संन्यासी-समुदाय की स्थापना की जो शस्त्र एवं शास्त्र दोनों से अद्वैत-मत की रक्षा करें। यह एक लोकतांत्रिक व्यवस्था थी जिसमें विभिन्न नियमों की स्थापना विचार-विमर्श के उपरांत की जाती थी। इनके नेतृत्व करने वाले प्रमुखों के चुनाव की भी व्यवस्था की गई थी। जनसाधारण से सम्पर्क करने तथा उन्हें धर्माचरण के नियमों से अवगत कराने के लिए प्रत्येक बारहवें वर्ष कुंभ पर्व में दशनामी संन्यासियों का भाग लेना आवश्यक कर दिया गया। गृहस्थों एवं साधुओं के संगम हेतु संगम-क्षेत्र से अधिक और कौन उपयुक्त हो सकता था। इसी परम्परा के अन्तर्गत आज भी दशनामी समुदाय के संन्यासी अपने संगठनों के चुनाव एवं अन्य महत्वपूर्ण नियमों के लिए कुंभ-पर्व की प्रतीक्षा करते हैं। श्रीमद् आदि-शंकराचार्य द्वारा इसकी पुनर्व्यवस्था के फलस्वरूप आज भी प्रमुख स्नान तिथियों में दशनामी-संन्यासियों को सामुदायिक स्नान का प्रथम विशेष अधिकार प्राप्त है।

आदि-शंकर ने भारतवर्ष को एक सूत्र में बांधने का महत्वपूर्ण कार्य किया था। चारों दिशाओं में उन्होंने अद्वैत-मत के चार आदि मठ स्थापित किये थे। स्वाभाविक था कि प्रयाग, हरिद्वार, उज्जयिनी एवं नासिक में आयोजित होने वाले कुंभ-पर्व उन्हें अपनी ओर आकृष्ट करें।

मध्यकाल में माघ-मासान्तर्गत आयोजित मेलों का वर्णन तो मिलता है किन्तु कुंभ' संज्ञा से विभूषित मेला का उल्लेख देखने को नहीं मिलता। सम्राट अकबर के प्रमुख दरबारी बीरबल, जहाँगीर एव औरंगजेब ने माघ-मेला के समय प्रयाग में निवास किया था। अपनी धर्मान्धता के कारण भारतीय इतिहास में कुख्यात सम्राट औरंगजेब तक प्रयाग के माघ-मेला की पावन-भावना से अभिभूत

हुए बिना न रह पाया। अपने माघ वास के दौरान उसने सोमेश्वर-नाथ महादेव मंदिर को पूजा-अर्चना हेतु तीन गाँव की जागीर दान में दी और वहाँ के पुजारी को 1,000 स्वर्ण-मुद्राएँ एवं 10 तोला स्वर्ण दिया था। उसी वर्ष उसने अन्य कई मंदिरों को जागीर एवं द्रव्य दान में दिया था जिसमें उज्जैन का महाकालेश्वर मंदिर उल्लेखनीय है।

उन्नीसवीं शती के प्रारम्भ में इस मेले के स्वरूप का विस्तृत विवरण ह्वीलर के यात्रा-वृतांत में मिलता है। उसने पर्णकुटियों में निवास कर रहे कल्पवासियों, हस्तकला एवं दैनिक वस्तुओं का व्यापार करने वाले दूकानदारों, हलवाइयों, खोंचेवालों, जलौनी लकड़ी बेचने वालों आदि का विस्तृत उल्लेख किया है। वह उर्ध्वबाहु किए, विशाल जटा-जूट-संभार धारण किए एवं तपस्या-रत साधुओं का उल्लेख उपहास के स्वरों में करता है। साधुओं को गज-अश्व-सहित शानो-शौकत वाले जुलूसों को देखकर वह विस्मित हो गया था। उसने यह भी लिखा है कि संभ्रांत घरानों की स्त्रियाँ परदे में स्नान किया करती थीं। उपलवृष्टि से तीर्थयात्रियों को होने वाले कष्ट का उल्लेख करते हुए वह बताता है कि इससे यात्रियों को बचाने के लिए किले के बैरकों में उनके निवास की व्यवस्था करनी पड़ी थी।

बीसवीं शती के प्रथम कुंभ-पर्व का विस्तृत विवरण एवं सम्बद्ध छाया-चित्र उपलब्ध है। प्रयाग स्थित राजकीय पब्लिक पुस्तकालय (अल्फ्रेड पार्क स्थित) में यह पुस्तक उपलब्ध है। इस वर्ष लगभग 30 लाख तीर्थ-यात्री आए थे। साधु-समाज में सर्वाधिक बहुतायत वैरागियों की थी। उनकी संख्या उस मेले में लगभग 60,000 थी, जिनमें से 30,000 ने शाही स्नान जुलूसों में भाग लिया था। प्रथम स्नान के प्रश्न पर महा-निर्वाणी संन्यासियों तथा निर्मोही एवं दिगम्बरी वैरागी अखाड़ों के मध्य संघर्ष हो गया था जिसके निस्तारण हेतु किले से अश्वारोही सैनिकों की एक टुकड़ी मंगानी पड़ी थी।

इसी वर्ष कुंभ में विशूचिका का प्रकोप हुआ और कई तीर्थयात्री गंगा-लाभ कर गये। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में इसकी सूचना प्रकाशित करते तत्कालीन अंग्रेजी सरकार ने जन-साधारण को आगाह किया था कि वे 'समझ-बूझ कर घर से पैर निकालें।'

1918 ई० में प्रथम विश्वयुद्ध एवं तज्जनित महँगाई के कारण कुंभ-

पर्व में तीर्थयात्री कम आए। 1924 ई० के अर्द्ध कुंभ में लगभग 40 लाख तीर्थयात्री आए। इस वर्ष गंगा पूर्णतः पूर्वाभिमुखी थीं अतः संगम कुंभ में बहुत गहरा था। इस समस्या के निदानार्थ यह प्रयत्न किया गया कि गंगा से एक नहर खोद कर यमुना में मिलाई जाए एवं कृत्रिम संगम-कुण्ड का निर्माण हो। महामना मदन मोहन मालवीय एवं पं० जवाहर लाल नेहरू ने इसका विरोध किया। पं० नेहरू ने स्वयं सर्वप्रथम प्राकृतिक संगम में स्नानार्थ छलांग लगाई। कई पत्रिकाओं में उनका संगम में स्नान करता चित्र प्रकाशित हुआ। यह चित्र उन कतिपय छायाचित्रों में है जिनमें पंडित जी यज्ञोपवीत धारण किए दिखाई पड़ते हैं। उनके इस स्नान के दृश्य का वर्णन करते हुए एक विदेशी पत्रकार ने लिखा है कि "उस समय पं० नेहरू पौराणिक ब्रह्म कमल के सदृश आधे जल में और आधे जल के बाहर तिरते हुए विभासित हो रहे थे।"

1942 में पुनः द्वितीय विश्वयुद्ध के कारण तथा भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के विरुद्ध छेड़े गए क्रूर अंग्रेजी दमन-चक्र के कारण तीर्थयात्रियों की संख्या कम रही।

वर्ष 1954 में स्वतंत्र भारत का पहला कुंभ-पर्व पड़ा। लोगों में बहुत उत्साह उमड़ा और लगभग 50 लाख तीर्थयात्री आए। स्वयं राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद एवं प्रधानमंत्री पं० जवाहर लाल नेहरू भी इस पर्व के दर्शनार्थ पधारे। उस वर्ष गंगा की धारा बेनी बाँध के सन्निकट थी जिसके फलस्वरूप त्रिवेणी क्षेत्र में बहुत कम भूमि उपलब्ध थी। प्रमुख तिथि मौनी-अमावस्या के दिन भगदड़ होने के कारण बहुत बड़ी संख्या में तीर्थयात्री हताहत हुए। इसका कारण एवं निराकरण के उपाय जानने हेतु न्यायमूर्ति श्री कमलाकांत वर्मा की अध्यक्षता में एक न्यायिक आयोग बैठा। इस आयोग की आख्या पठनीय है और यही आख्या भविष्य में कुंभ-प्रबंध-व्यवस्था की आधारशिला बनी। इसकी प्रमुख सँस्तुतियों में बेनी बाँध, परेड तथा त्रिवेणी क्षेत्रों को विधिनिषिद्ध अतिक्रमणों से मुक्त रखना एवं प्रमुख दिवसों में अत्यन्त महत्वपूर्ण व्यक्तियों (वी० आई० पी०) द्वारा मेला-भ्रमण न करने की संस्तुतियाँ उल्लेनीय हैं। यह खेदजनक है कि इस सार-गर्भित संस्तुति के बावजूद उपरोक्त क्षेत्रों में अनुमित एवं

अननुमति निर्माणों एवं अतिक्रमण जारी है।

जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है वर्ष 1965 एवं 1966 में मत-मतान्तर के कारण दो बार कुंभ की व्यवस्था की गई। कुंभ की शोभा, अखाड़ों के, न आने के कारण 1965 का कुंभ हल्का रहा। वर्ष 1966 में लगभग 60 लाख तीर्थयात्री मुख्य-पर्व के दिन स्नानार्थ आए। यह पर्व निर्विघ्न गुजरा।

वर्ष 1977 के कुंभ की विशेषता यह थी कि इस वर्ष गंगा दशाश्वमेध क्षेत्र से स्वतः दो धाराओं में विभाजित हो गई। फलस्वरूप एक सैकतमय गंगद्वीप बन गया। संगम स्नान-क्रुण्ड भी विस्तृत हो गया। इन तीन धाराओं के कारण 'त्रिवेणी' नाम सार्थक दृष्टिगोचर हुआ। गंगा की इस अद्‌भुत छटा का पत्र-पत्रिकाओं एवं दूरदर्शन द्वारा बड़ा प्रचार-प्रसार हुआ। जन-मानस में यह धारणा बनी कि अन्तर्सलिला सरस्वती प्रकट हुई हैं। आपात्-स्थिति के कारण रेल एवं सड़क परिवहन व्यवस्था समयानुकूल एवं सुव्यवस्थित होने के कारण सुदूर दक्षिण तक से बहुत बड़ी संख्या में तीर्थयात्री आए। इस वर्ष प्रथम बार पूर्ण प्रयाग तीर्थ क्षेत्र में, नागवासुकि से शेषनाग (छतनाग), मेला क्षेत्र का विस्तार किया गया। पहले मेला क्षेत्र मात्र 'एक पेड़ पाठशाला' तक ही रहता था। इसके फलस्वरूप शेषनाग द्वारा स्थापित शंखमाधव मंदिर का जीर्णोद्धार हुआ। अब वहाँ उद्योगपति बिड़ला द्वारा चिकित्सालय एवं अन्य संस्थान खोले जा रहे हैं। कालान्तर में प्रयाग का यह सुरम्यतम क्षेत्र बन जाएगा।

इस वर्ष सर्वाधिक भीड़ आई। 'गिनेस बुक ऑफ रेकर्ड्‌स' के अनुसार विश्व का विशालमय जन-समूह (1 करोड़ तीस लाख) मौनी-अमावस्या की तिथि (19 जनवरी) को यहाँ एकत्रित हुआ। इस वर्ष मुख्य कुंभ-पर्व की तिथि में 'अमृत योग' लगा था। पंडितों के अनुसार ग्रह-स्थिति उसी प्रकार की थी, जैसी समुद्र-मंथन के समय थी। यह योग 144 वर्षों के अंतराल पर पड़ता है। परंपरागत अखाड़ों के अतिरिक्त देश-विदेश के हर सम्प्रदाय के साधु-संन्यासी आए थे। चारों आम्नाय के जगद्‌गुरु शंकराचार्य भी उपस्थित थे। उपरोक्त विशिष्ट कारणों से इसे महाकुंभ' की संज्ञा विद्वानों ने दी थी। भारत की लब्ध-प्रतिष्ठ प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गाँधी भी इस अवधि में आई

थीं और उन्होंने साधु-समाज की बैठक में भाग लिया था। सुव्यवस्था एवं भगवत्कृपा से यह कुंभ-पर्व निर्विघ्न बीता।

वर्ष 1989 में उपस्थित कुंभ-पर्व भी अनेक विशिष्टताओं से परिपूर्ण है। चतुष्फल-प्रदायी 'महोदय योग' इसमें समाविष्ट है। इस वर्ष मौनी-अमावस्या सोमवार को पड़ रही है अतः यह अमावस्या सोमवती होगी। सामान्य अमावस्या भी जब सोमवती होती है तो उसकी महत्ता बढ़ जाती है फिर कुंभ-पर्व के सोमवती होने की महिमा की गाथा कौन गा सकता है। आवागमन के साधनों की सुलभता के कारण धर्मप्राण तीर्थयात्रियों के विशाल समूह का इसमें भाग लेना सुनिश्चित जान पड़ता है।

यद्यपि अंग्रेजी तिथि के अनुसार अमावस्या 6 फरवरी को पड़ेगी किन्तु भारतीय ज्योतिष-गणना के अनुसार अमावस्या 5 फरवरी के अपराह्ण 3.17 (तीन बज कर सत्रह मिनट) से ही प्रारम्भ होगी एवं 6 फरवरी को 1:37 (एक बजकर सैंतीस मिनट) पर समाप्त हो जाएगी।

इस वर्ष सूर्य, शुक्र, बुध एवं चंद्रमा मकर राशि में स्थित होंगे जो विशेष शुभकारी हैं--

चंद्रार्क बुध शुक्राणां संयोग शुभगोत्तरः।
हर्षश्च राज्यमानश्च उपलब्धि भवति निश्चयः॥

(मान सागरी)

कुंभ-स्नान का माहात्म्य विभिन्न पुराणों एवं शास्त्रों में वर्णित है। स्नान, कल्पवास एवं पिण्डदान के लिए यह समय सर्वोत्कृष्ट माना गया है। चारों पुरुषार्थ, धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष प्राप्ति हेतु इस पर्व में विभिन्न योग एवं लग्न उपस्थित होते हैं। अपने जन्माङ्ग के अनुसार तीर्थयात्री को अभीष्ट की फलपूर्ति हेतु स्नान का मुहूर्त्त तय करना चाहिए। मोक्ष प्राप्ति के लिए सभी मुहूर्त्त एक समान हैं--

"तान्येति यः पुमान् योगे सो मृतत्वाय कल्पते।
देवा नमन्ति तत्रस्थान् यथा रंक धनाधिपान्॥'

(विष्णुयोग)

जो मनुष्य कुंभ योग में समष्टि के साथ स्नान करता है वह संसार के मायाजाल से मुक्त हो जाता है। उसके आगे देवता भी उसी प्रकार

सिर झुकाते हैं जिस प्रकार रंक धनपति के समक्ष।

विष्णु-पुराण कुंभ-स्नान की तुलना अन्य शुभ-स्नानों से करता हुआ कहता है कि एक सहस्र कार्तिक-स्नान, एक सौ माघ-स्नान एवं नर्मदा में किया गया एक कोटि वैशाख-स्नान के तुल्य एक कुंभ स्नान का फल है—

सहस्रं कार्त्तिको स्नानं माघे स्नानं शतानि च।
वैशाखे नर्मदा कोटि कुंभ स्नानेन तत्फलम॥

अन्यत्र विष्णु-पुराण इसकी महत्ता एक सहस्र अश्वमेध यज्ञ, एक शत-वाजपेय यज्ञ एवं पृथ्वी की एक लाख परिक्रमा के बराबर बताता है—

अश्वमेध सहस्राणि वाजपेय शतानि च।
लक्ष-प्रदक्षिणा पृथ्व्याः कुंभ स्नानेन तत्फलम्॥

कुंभ के समय किए गए श्राद्ध एवं जप-तप सभी पापों से विमुक्ति देने का सामर्थ्य रखते हैं, ऐसी वायु-पुराण की व्यवस्था है—

श्राद्धे कुंभे विमुंचंति ज्ञेयं पापं निषू-दनम्।
श्राद्धं तत्राक्षयं प्रोक्तं जप्य होम तपांसिच॥

□

2

तीर्थराज प्रयाग

'प्रयाग' शब्द 'प्र' उपसर्ग एवं 'याग' शब्द से बना है—प्र + याग। 'प्र' उपसर्ग श्रेष्ठावाचक है। 'याग' शब्द की निष्पत्ति 'यज्' धातु से हुई है। इसी धातु से 'याग' का समानार्थक जनसाधारण को बोधगम्य शब्द 'यज्ञ' बना है। ब्रह्मपुराण के अनुसार इस क्षेत्र में 'प्रकृष्ट यज्ञ' हुए अतः इसका नाम प्रयाग पड़ गया। इस श्रेष्ठ-पुण्य-स्थली में यज्ञ करने से सद्यः यज्ञ-फल प्राप्त होता है इसलिए इसे 'प्रयाग' कहते हैं।

'प्रयाग' के साथ उसकी पुण्यता के बोधक दो शब्द बहुधा जुड़े रहते हैं। तीर्थ' एवं 'क्षेत्र'। 'तीर्थ' का एक अर्थ है वह घाट जहाँ से आसानी से मनुष्य नदी को पार कर सकता है अर्थात् नदी पार करने का सुगम मार्ग। नदी पुल पर चलकर भी पार की जा सकती है और नाव पर चढ़कर भी। किन्तु इन दशाओं में नदी का सामीप्य अवश्य होगा उसका सम्पर्क नहीं। तीर्थ के अवलंबन से नदी के जल की शीतलता की अनुभूति होगी, उसकी गहराई की थाह मिलेगी और यह आत्म-विश्वास जगेगा कि हम अपने पाँव-प्यादे ही नदी को पार कर सकते हैं। तीर्थ-यात्रा इसी प्रकार हमें आस्था की नदी का सम्पर्क प्रदान कराती है।

'तीर्थ' गुरु को भी कहते हैं क्योंकि गुरु ही ज्ञान एवं भक्ति की दुर्गम धारा के पार शिष्य को ले जाता है और उसे इतना सक्षम बना देता है कि दूसरों को भी पार उतार सके।

'तीर्थ' का एक अन्य अर्थ जल भी है। धर्म-कार्य में प्रयुक्त जल को तीर्थ कहते हैं। जल से भारतीय संस्कृति प्रारंभ से ही जुड़ी रही है। नदियों के किनारे ही इस संस्कृति का विकास हुआ। जल को जीवन का, उर्वरता का, गतिशीलता का प्रतीक माना गया। इन्हीं नदियों के किनारे वेद, उपनिषद्, पुराणों एवं सूत्रग्रंथों का प्रकाश हुआ। मुनियों

ने तप किए, यज्ञ किए और इस नदी-तट-प्रदेश को तपः पूत बना दिया ।

'क्षेत्र' का सामान्य अर्थ है भू-खण्ड । इसी का तद्भव रूप है 'खेत' । 'तीर्थ-क्षेत्र' या 'पुण्य-क्षेत्र' का अर्थ है वह पूरी भूखण्ड-परिधि, जो पवित्र जल-धारा से सिंचित हो अथवा जहाँ तक तप, यज्ञ आदि पुण्य कार्य होते रहे हों । गंगा का पुण्य-क्षेत्र सर्वाधिक विस्तृत माना गया है । इसके संबंध में पद्माकर की उक्ति प्रसिद्ध है—'जहाँ-जहाँ गंगा तोरी धूरि उड़ि जात मैया, तहाँ-तहाँ पापन की धूरि उड़ि जात है ।'

प्रयाग की स्थति के सम्बन्ध में मनुस्मृति कहती है—

'हिमवद्विन्ध्योर्मध्ये यत्प्राग्विनशनादपि ।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च, मध्यदेशः प्रकीर्तितः ।।'

हिमवन्त एवं विंध्य-श्रेणी के मध्य, उस स्थान से जहाँ सरस्वती विलुप्त हो जाती है, और प्रयाग के पूर्व जो देश है, उसे मध्यदेश कहते हैं । अर्थात् 'प्रयाग' मध्यदेश की पूर्वान्त-सीमा प्रदेश था ।

रामायण एवं महाभारत में प्रयाग का विस्तृत विवरण मिलता है । भरद्वाज मुनि के विशाल गुरुकुल, त्रिवेणी एवं अक्षयवट, का विस्तृत वर्णन वाल्मीकि ने किया है । भरद्वाज का यह गुरुकुल इतना विशाल एवं समृद्ध था कि इसमें भरत की चित्रकूट यात्रा के समय अयोध्या के राजकुल एवं पूरी सेना के आतिथ्य की व्यवस्था सहज ही कर दी गई थी । यह आतिथ्य इतने उच्चकोटि का था कि अयोध्या के सैनिक आश्रम छोड़ने को तत्पर नहीं हो रहे थे, वहीं मगन रहना चाहते थे ।

महाभारत में प्रयाग को सोम, वरुण तथा प्रजापति का जन्म-स्थान बताया गया है । वन-पर्व में त्रिवेणी, प्रतिष्ठानपुर (झूंसी), वासुकी (बसकी) तथा दशाश्वमेध (दारागंज) का भी वर्णन है ।

पुराण प्रयाग के वर्णन तथा महिमा के आख्यानों से परिपूर्ण हैं । कूर्मपुराण इसे प्रजापति-क्षेत्र बताता है, मत्स्य पुराण एवं अग्नि-पुराण प्रजापति के यज्ञों की वेदी । वामन-पुराण में इसे प्रजापति की पाँच यज्ञ-वेदियों में से एक कहा गया है । मत्स्य, अग्नि एवं कूर्म-पुराण इसे पृथ्वी की जंघा अथवा सभी जीव-जन्तुओं एवं वनस्पतियों का सृजन-स्थल बताया गया है ।

मत्स्य-पुराण के अनुसार प्रयाग-क्षेत्र का विस्तार 20 कोस का है ।

कूर्म-पुराण में इसका क्षेत्रफल छः हजार धनुष बताया गया है जिसमें प्रजापित का विशेष क्षेत्र 5 योजन वर्णित है।

वाराह-पुराण भी प्रयाग-तीर्थ क्षेत्र का प्रसार पाँच योजन में बतलाता है। एक योजन सामान्यतः ढाई कोस का माना जाता है। इस प्रकार प्रयाग क्षेत्र का क्षेत्रफल 25 वर्गमील का होगा।

पंचयोजन - विस्तीर्णं प्रयागस्य तु मण्डलम्
उत्तरेण प्रतिष्ठानाच्छालमली ब्रह्म तिष्ठति।
महेश्वरो वटो भूता तिष्ठते परमेश्वररः
रक्षति मंडलम् नित्यं पाप-कर्म-निवारणाः॥

पद्म-पुराण के अनुसार प्रयाग-तीर्थ-क्षेत्र की लंबाई-चौड़ाई 1.5 योजन है और इसके 6 किनारे हैं।

पुराणों में प्रयाग क्षेत्र स्थित मंदिरों एवं तीर्थों का भी विस्तृत विवरण मिलता है। वाराह-पुराणानुसार प्रयाग में त्रिकंटकेश्वर, शूलकंटक एवं सोमेश्वर आदि लिंग तथा वेणीमाधव हैं। मत्स्य एवं कूर्म-पुराणों ने अलर्क वर्तमान [अरैल] की बड़ी महिमा गाई है। उनके अनुसार प्रयाग में यमुना के दक्षिण-तट पर कम्बल और अश्वतर दो नदी तट हैं जो प्रजापति की यज्ञवेदी की सीमान्त रेखाएँ हैं। इन दोनों के मध्य भोगवतीपुरी, जहाँ ऋण-मोचन तीर्थ है, वहाँ स्नान करने से मनुष्य देव, गुरु एवं पितृ ऋणों से मुक्त हो जाता है। जो व्यक्ति किन्हीं कारणों से कर्म द्वारा इन ऋणों से मुक्त न हो पाए, वह यहाँ स्नान, जप, ध्यान एवं दान द्वारा उऋण हो सकता है। मत्स्य पुराण यमुना-तट स्थित सोमेश्वर मंदिर के संबंध में कहता है कि सूर्य-तनया यमुना जिस स्थान पर प्रयाग में आई है, उसी स्थान पर साक्षात् महादेव की स्थिति है।

मत्स्य तथा वाराहपुराण वर्तमान झूँसी में उर्वशी-रमण, हंस-प्रपतन, विपुल, हंसपाण्डुर, हंसतीर्थ एवं समुद्रकूप का उल्लेख करते हैं। अक्षयवट एवं वासुकी का उल्लेख कई पुराणों में आता है।

प्रयाग का उल्लेख तंत्र शास्त्रों में भी आता है। शाक्त-मत के अनुसार यहाँ की अधिष्ठात्री श्री ललिता देवी हैं और यह 64 जाग्रत शक्ति-पीठों में से एक है। एक अन्य मत के अनुसार विष्णु द्वारा सती-

शव के विखण्डित किए जाने पर सती का 'शवाच्छान यहाँ गिरा था। उस स्थान पर अलोपी देवी का मंदिर अब भी है। यहाँ किसी विग्रह की पूजा नहीं होती है वरन् आच्छादन-प्रतीक वस्त्र की होती है। ललिता देवी का स्थान यमुना-तट पर मीरापुर में है।

प्रयाग-क्षेत्र का विस्तृत वर्णन, माहात्म्य एवं तीर्थों के संबंध में जो जिज्ञासा रखते हैं उनके लिए श्री नारायण भट्ट विरचित 'त्रिस्थली सेतु' नामक पुस्तक बहुत उपयोगी होगी। इसमें श्री नारायण भट्ट ने विभिन्न पुराणों, स्मृतियों एवं अन्य पुस्तकों में उल्लिखित प्रयाग संबंधी प्रसंगों का वर्णन 'प्रयाग प्रकरणम्' नामक अध्याय में विस्तार पूर्वक किया है। इसके कुछ उद्धरण इस पुस्तिका के परिशिष्ट 'अ' में भी दिए गए हैं।

यद्यपि त्रिवेणी, प्रतिष्ठान एवं अलर्क अथवा सोमतीर्थ प्रयाग-तीर्थ के तीन आधार-क्षेत्र हैं किन्तु कालान्तर में त्रिवेणी क्षेत्र अथवा गंगा के उत्तर-कूल की प्रसिद्धि अधिक बढ़ती गई। चूँकि तीर्थ-पुरोहित समाज इसी क्षेत्र में निवास करता रहा और यहाँ आवागमन एवं अन्य कार्यों की सुविधाएँ सहज उपलब्ध थीं अतः सामान्य जन-धारणा यह बनती गई कि कल्पवास एवं स्नान-दान इसी क्षेत्र में फलदायी हैं। वस्तुतः शास्त्रों में तीनों क्षेत्रों की स्थिति समान पाई जाती है। तीर्थ-नायक-प्रयाग-क्षेत्र की सुपरिचित परिभाषा में यह स्पष्टतः उल्लिखित किया गया है कि त्रिवेणी, वेणी-माधव, सोमेश्वर, भरद्वाज आश्रम, नागवासुकि, अक्षयवट एवं शेषतीर्थ (छतनाग), इन सप्त-तीर्थों के मध्य तीर्थराज प्रयाग क्षेत्र अवस्थित है--

'त्रिवेणी माधवं सोमं भरद्वाजञ्च वासुकिम्।
वन्दे अक्षयवटं शेषं प्रयागे तीर्थ-नायकम्॥'

तीर्थयात्री यह जानने के लिए उत्सुक रहते हैं कि किस स्थान पर स्नान करना सर्वाधिक श्रेयस्कर है। मकरस्थ सूर्यावधि में प्रयाग-स्नान के संबंध में पद्म-पुराण का कथन है कि उक्त प्रयाग-क्षेत्र में सर्वत्र स्नानादि शुभकृत्य पाप-विनाशक है—

'मकरस्थे रवौ माघे प्रातःकाले तथाऽमले।
गोष्पदेऽपि जले स्नानं स्वर्गदं पाप-नाशनम्॥'

यमुना के दक्षिण-तट के स्नान की विशेष महिमा मत्स्य एवं कूर्म-पुराण में वर्णित मिलती है—

'कम्बलाश्वतरौ नागौ यमुना दक्षिणे तटे।
तत्र स्नात्वा च पीत्वा च मुच्यते सर्वपातकैः ॥'

प्रयाग में यमुना-स्नान की महत्ता का वर्णन करते हुए ब्रह्म-पुराण में लिखा है—

यमस्य भगिनी साक्षाद्भानोः कन्या अतिपावनी।
तत्र स्नात्वा नरा यान्ति सूर्य गण्डलभेदिनः ॥

वर्तमान छतनाग प्राचीन शेष-तीर्थ अथवा शंख-तीर्थ है। कुछ दूरी पर होने के कारण तीर्थयात्री वहाँ स्नानार्थ नहीं जाते। पौराणिक काल में इस तीर्थ की बड़ी महिमा थी। ब्रह्म पुराण ने इस तीर्थ का वर्णन करते हुए कहा है—यह सब पापों का क्षय करने एवं बैकुण्ठवास का फल देने में समर्थ तीर्थ है—

'स्नात्वा तत्र समर्चन्ति शङ्खेन मधुसूदनम्।
ते सर्वे पापनिर्मुक्ता यास्यन्ति हरि मंदिरे ॥''

अतः इस वाद-विवाद में पड़ना व्यर्थ है कि कहाँ स्नान अधिक शुभ-तर है और कहाँ नहीं। ब्रह्म-पुराण की यह व्यवस्था कि गंगा एवं यमुना के छहों तटों, गंगा के निजी दोनों तट, यमुना के दोनों तट एवं संगम से आगे पूर्व दिशा में यमुना का जल-भार सँजोई किन्तु निज स्वरूप प्रदान करती बहती गंगा के दो तट, पर विश्वरूप-धारी हरि विद्यमान हैं और वहाँ किया गया स्नान-ध्यान, जप-तप, पूजा-अर्चना, दान-दक्षिणा समान फलदायी हैं, सर्वाधिक समीचीन एवं ग्राह्य प्रतीत होती है—

''षट्कूले तु हरिः साक्षाद्वर्तते विश्वरूपधृत।''

प्रयाग तीर्थराज है क्योंकि यहाँ पुण्यतोया गंगा, कृतपुण्या यमुना एवं सरस्वती का संगम है। यहाँ प्रकृष्ट रूप से यज्ञ-याग हुए। स्वयं ब्रह्म पितामह ने यहाँ यज्ञ किया था। महाभारतकार के अनुसार यहीं सोम, वरुण एवं प्रजापति का जन्म हुआ था। श्रीकृष्ण द्वैपायन व्यास के अनुसार सभी तीर्थ, देव, ऋषि एवं मुनि यहाँ निवास किया करते हैं। माघ मास में यहाँ तीन कोटि, दस सहस्र तीर्थ एकत्रित होते हैं। इस काल में जो व्यक्ति भक्तिपूर्वक व्रतनिष्ठ हो प्रयाग में त्रिवेणी

स्नान करता है वह सहज ही निष्पाप होकर स्वर्ग लोक का अधिकारी बन जाता है।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी रामचरितमानस में प्रयागराज की महत्ता का वर्णन किया है। उनके अनुसार—

"माघ मकरगति रवि जब होई।
तीरथ पतिहि आव सब कोई॥
देव दनुज किन्नर नर श्रेणी।
सादर मज्जहिं सकल त्रिबेनी॥"

इस तीर्थराज का केन्द्र बिंदु है—त्रिवेणी अथवा वेणी।

'तीर्थ कल्पतरु' के अनुसार मात्र संगमस्थल ही 'वेणी' की संज्ञा रखने का अधिकारी है।' किन्तु पद्मपुराण, मत्स्यपुराण, अग्नि-पुराण एवं महाभारत के अनुसार सितासित (गंगा-यमुना) के संगमस्थल के चारों ओर बीस धनुष की लम्बाई और चौड़ाई के क्षेत्र को त्रिवेणी अथवा वेणी कहते हैं। यहाँ स्नान के पश्चात् किए गए दान का फल राजसूय यज्ञ के फल के समकक्ष माना गया है। सम्प्रति दान-पुण्य, पिण्डदान एवं अन्य धार्मिक कृत्यों के लिए व्यास मुनि का मत ही सर्वमान्य है।

त्रिवेणी तीन नदियों का संगम स्थल है। धवल-वर्णा गंगा, श्याम-वर्णा यमुना एवं अव्यक्तरूपा सरस्वती यहाँ सहोदराओं की तरह एक दूसरे के गले मिलती हैं। जिस प्रकार ललनाओं की वेणी में तीन लटें होती हैं किन्तु मात्र दो ही दृष्टिगोचर होती हैं, तीसरी उन दोनों के मध्य अव्यक्त अवस्थित रहती है, उसी प्रकार की स्थिति गंगा-यमुना के मध्य अन्तःसलिला सरस्वती की यहाँ है। इसी कारण इसे "वेणी" या लोक भाषा में "बेनी" भी कहते हैं। पुराणों के अनुसार त्रिवेणी प्रणवाक्षर "ओऽम्" का साक्षात् मूर्त रूप है। अ, उ एवं म् क्रमशः सरस्वती, यमुना और गंगा के प्रतीक हैं।

त्रिवेणी की सुन्दरता एवं महत्ता का वर्णन पुराणों, महाकाव्यों एवं अनेकानेक साहित्य-ग्रंथों में विस्तृत रूप से किया गया है। सितासित नदियों के इस मिलन की नैसर्गिक सुन्दरता को जिसने अपने नेत्रों से न देखा हो वह इसका अनुमान नहीं कर सकता। "गिरा

अनयन नयन बिनु बानी'' की उक्ति यहाँ सार्थक होती है। यमुना यहाँ गहरी और मंथर गति से बहने वाली है। गंगा में गहराई कम है किन्तु उसकी धारा अत्यन्त वेगवती है। यमुना के श्याम जल में गंगा की धारा वेग के साथ प्रवेश करती है। कहीं श्याम जल के बीच धवल वर्त्तुल दिखाई पड़ता है, कहीं दोनों रंग की धाराएँ लिपटी दिखाई पड़ती हैं और कहीं साथ-साथ प्रवाहमाना। इसका सही चित्रण करने के लिए तो कविकुल गुरु कालिदास की प्रतिभा चाहिए। रघुवंश में जब राम अयोध्या लौट रहे हैं तो जानकी को संगम का दर्शन कराते हुए कहते हैं—

''क्वचित्प्रभालेपिभिरिन्द्रनीलै-मुक्तामयी यष्टि-रिवानुविद्धा।
अन्यत्र माला सितपंकजानामिन्दीवरैरुत्खचितान्रेव॥''

''हे प्रिये! यमुना की इस नील धारा से मिलती गंगा की धवल धारा को देखो। कहीं पर नीलमणि के साथ गुँथी मोतियों की माला और कहीं श्वेत एवं नीलकमलों को मिलाकर बनाई गई पंकजमाला सदृश दिखाई पड़ती है।''

गोस्वामी श्री तुलसीदास ने इस छटा का वर्णन इस प्रकार किया है—

सोहे सितासित को मिलिबो, तुलसी हुलसै हिय हेरि हलोरे।
मानो हरे तृन चारु चरैं बगरे सुरधेनु के धौल कलोरे॥

त्रिवेणी की छवि के समकक्ष भारत में कोई दृश्य अन्यत्र नहीं मिलता। विश्व में मात्र एक और स्थान है जहाँ द्विरंगी धाराओं की क्रीड़ा देखने को मिलती है—नील नदी की दो शाखाओं, ह्वाईट नाईल एवं ब्लू नाईल के संगम पर। किन्तु, उस स्थान की कोई साँस्कृतिक अथवा आध्यात्मिक महत्ता मिस्र एवं सूडान में भी नहीं है।

भारतीय सँस्कृति में नदियों को वही स्थान दिया गया है जो मनुज-शरीर में नाड़ियों का है। नाड़ियाँ रक्त-संचार करती हैं और शरीर को स्वस्थ एवं हृष्ट-पुष्ट बनाती हैं। नदियाँ भी इसी प्रकार पूरे राष्ट्र को जल-सिंचित कर, फल-फूल, औषधियों एवं धन-धान्य से परिपूर्ण करती हैं। जिस प्रकार शरीर की बहत्तर हजार नाड़ियों में दस नाड़ियाँ प्रमुख हैं और उनमें इड़ा, पिंगला एवं सुषुम्ना सर्वोपरि

हैं, उसी प्रकार भारत भूमि की सभी नदियों में दस नदियाँ प्रमुख मानी गई हैं और गंगा, यमुना तथा सरस्वती इनमें विशिष्टतम मानी गई हैं। ऋग्वेद ने इन दसों नदियों की स्तुति की है। इसमें सर्वोपरि स्थान गंगा को दिया गया है—

"इमं मे गङ्गे ! यमुने ! सरस्वति ! शुतुद्रि ! स्तोमं रुचता परुष्ण्या !
असिक्न्या मरुद्वृधे ! वितस्तयार्जीकीये ! श्रुणुह्या सुषोमया ।।"

भावानुवाद—

"(हे गंगा, हे यमुना, हे सरस्वती, हे सतलज, हे इरावती, हे चिनाब, हे मरुदृधा, हे झेलम, हे आर्जीकीया, हे सुषोमा, सब एक साथ मेरी स्तुति को सुनो और मेरी प्रार्थना को साकार करो)"

जिस गंगा के जल को,औषधं-जाह्नवी-तोयं' माना गया है, जिसे सद्यः मोक्षदायी माना गया है, उसकी महिमा से भला कौन भारतीय अपरिचित होगा। गंगा पार्थिव नदी नहीं थी। वह तो देवताओं द्वारा सेविता-पूजिता होकर ब्रह्मा के कमण्डलु में वास करती थी। वामनावतार में जब भगवान ने त्रिविक्रम रूप धारण कर अनन्त को नापने हेतु अपना चरण ऊर्ध्वमुख किया और वह ब्रह्माण्ड में पहुँचा, चतुर चतुरानन ने तुरंत उनके पद पखार लिए। भगवान का पादोदक ही गंगा बन कर ब्रह्मा के कमंडलु में एकत्र हुआ इसीलिए इसे शंकराचार्य ने "हरि-पद-पाद्य-तरङ्गिणी" की संज्ञा दी है।

गंगा जी की एक संज्ञा "ब्रह्मदेवस्वरूपणी" अर्थात् परब्रह्म परमात्मा की द्रवमूर्ति भी है। नटराज भगवान शंकर एवं भगवती पार्वती के ताण्डव-लास्य नृत्त-नृत्य का आनन्द लेते हुए एक बार भगवान विष्णु इतने पुलकित हुए कि पुलकित-तरंगित जलधारा में बदल गए। तत्काल ब्रह्मा जी ने उन्हें अपने कमण्डलु में धारण कर लिया।

ब्रह्मा के कमण्डलु से गंगा हमारी धरती पर कैसे आई, यह कथानक "गंगावतरण" के नाम से प्रसिद्ध है। पुराणों में, महाभारत में एवं अनेक काव्यों में इसका विशद वर्णन उपलब्ध है तथापि जिसके नाम-स्मरण मात्र से अघनाश होता है, उसके अवतरण की कथा लिखने का लोभ संवरण कर पाना कठिन है।

संक्षेप में इस पुरातन आख्यान के अनुसार इक्ष्वाकु कुल के राजा, भगवान श्री रामचंद्र के पूर्वज, अयोध्या-नरेश सगर ने अश्वमेध-यज्ञ

का अनुष्ठान किया था। उन्होंने रानी सुमति से साठ हजार पराक्रमी पुत्र उत्पन्न किए थे और रानी केशिनी से एक पुत्र। केशिनी पुत्र का नाम असमंजस था जिनका पुत्र था अंशुमान। सगर ने अपने साठ हजार सुमति-पुत्रों को यज्ञीय अश्व की रक्षा हेतु नियोजित किया था। राजा सगर को अश्वमेध यज्ञ करते देख इंद्र बहुत घबराया। वह सगर के पुण्य-प्रताप से पहले ही आशंकित था। उसे भय हुआ कि कहीं अश्वमेध यज्ञ संपूर्ण कर सगर उससे इन्द्र-पद न छीन ले। अतः उसने छलपूर्वक यज्ञ के घोड़े को चुरा लिया और भू-गर्भ मार्ग से ले जाकर महामुनि कपिल के आश्रम में बाँध दिया। महाबली सगर-पुत्रों को जब यह बात पता चली तो उन्होंने धरती की खुदाई शुरू की। खुदाई करते और अश्व का अनुसंधान करते हुए वे भी कपिल मुनि के आश्रम जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने देखा कि यज्ञ का घोड़ा बँधा हुआ है और एक साधु आखें बंद किए पद्मासन में बैठा हुआ है। कपिल ध्यान-मग्न समाधिरत थे। न उन्हें इन्द्र की करतूत का भान हुआ और न राजकुमारों के आने का आभास। उधर राजकुमारों को लगा कि घोड़ा चुराने वाला कपटी व्यक्ति ही मुनि बनने का स्वाँग रच रहा है। उन्होंने मुनिवर का घोर अपमान किया। जिन्हें स्वयं भगवान अपने उपमान के रूप में देखते हैं—'सिद्धानां कपिलो मुनिः,' उन मुनीश्वर कपिल की समाधि टूट गई। उन्हें आँखें खोलता देख राज-कुमारों ने और खरी-खोटी सुनाई। 'अतिसय रगड़ करै जो कोई, प्रगट अनल चन्दन ते होई।' मुनि ने रोष में आकर अपने हुँकार मात्र से साठ हजार सगर-पुत्रों को राख कर दिया।

कई दिन बीतने पर भी जब राजकुमार-समूह अयोध्या नहीं लौटा तो सगर अत्यंत चिंतित हुए। उन्होंने अपने युवा पौत्र अंशुमान को उनकी तलाश में भेजा। अनुसंधान करते-करते वह कपिल-आश्रम पहुँचा जहाँ उसे अपने पितृव्यों के इस अकाल मृत्यु का दुःखद समाचार मिला। विनयपूर्वक अनुनय करते हुए उसने कपिल मुनि से इन राज-कुमारों की सद्गति का उपाय पूछा। कपिलाश्रम में उपस्थित गरुड़ जी ने उसे बताया कि यदि स्वयं गंगा आकर इन राजकुमारों के भस्म को पवित्र करें तो उनकी सद्गति संभव है। वह अश्व ले जाकर

प्रथमत: यज्ञ सम्पूर्ण करे और फिर गंगा को पृथ्वी पर लाने का उद्यम।

येन-केन-प्रकारेण यज्ञ सम्पन्न हुआ और राजा सगर गंगावतरण हेतु तप में प्रवृत्त हुए। सगर ने तप करते हुए शरीर त्याग कर दिया किन्तु कोई फल न निकला। असमंजास एवं तदूपरांत अंशुमान ने भी कठोर तपस्या की किंतु उद्देश्य पूर्ण न हो सका। अंशुमान के पुत्र परम-प्रतापी राजा दिलीप ने भी कठोर तपस्या की किन्तु वे भी निष्फल रहे।

दिलीप के पुत्र भगीरथ परम धार्मिक एवं सात्त्विक पुरुष थे। संतानहीन होने के बावजूद भी उन्होंने गंगावतरण हेतु गोकर्ण तीर्थ में भीषण एवं कठोर तपस्या प्रारम्भ की। उनकी तपस्या से सूर्य चंद्रमा विचलित हो उठे। उनकी प्रार्थना पर स्वयं ब्रह्मा भगीरथ के पास पहुँचे और उन्होंने भगीरथ से अभीष्ट वरदान माँगने को कहा। जिस लक्ष्य हेतु चार पीढ़ियों ने अपना शरीर होम कर दिया था उसकी प्राप्ति की घड़ी आन पहुँची थी। भगीरथ ने अपने पूर्वजों की सद्गति हेतु गंगा जी को धरती पर भेजने के लिए एवं वंशवृद्धि हेतु एक सुयोग्य पुत्र-प्राप्ति के वरदान माँगे।

ब्रह्मा ने वरदान तो दिया किन्तु सुरसरि को भूतल पर प्रवाह-मान करने की सुव्यवस्था हेतु भगीरथ को आशुतोष भगवान शंकर की आराधना की प्रेरणा दी। स्वर्ग से भूतल पर आती वेगवती गंगा को शिव के अतिरिक्त और कौन सँभाल सकता था। अन्यथा धरती को छेदती हुई गंगा रसातल में पहुँच जाती और भगीरथ भग्न-मनोरथ हो जाते।

अब भगीरथ शंकर की आराधना में जुटे। एक पादाङ्गुष्ठ पर स्थित हो उन्होंने पूर्ण मनोयोग से शिव का आराधन किया। औढर-दानी शिव सहज ही प्रसन्न होते हैं। भगीरथ की तपस्या से प्रसन्न हो उन्होंने गंगा को संभालने का कार्य स्वीकार कर लिया।

जब पितामह ने गंगा को अपने कमण्डलु से उतर कर धरती पर जाने का आदेश दिया तो सुरसरि को देवलोक छोड़ने का कुछ क्षोभ हुआ। मन में यह भी अभिमान हुआ कि उसकी धारा को भला कौन झेल सकता है। वह शंकर समेत पाताल जाने हेतु कृत-संकल्प हो

अत्यंत प्रचण्ड वेग से हहराती हुई उतरीं। उनके वेग को देखकर कच्छप, मत्स्य, वाराह, दिग्गज एवं लोकपाल कम्पायमान हो उठे, सामान्य जीव-जन्तुओं की दशा का क्या कहना।

त्रिकालज्ञ शिव गंगा के इस कुसंकल्प को तत्क्षण जान गए। वे गंगा का हठ-भंग करने के लिए दाहिने पैर से हिमालय को दबा कर, दृढ़ संकल्प हो खड़े हो गए। गंगा वेग से उतरीं और उनके जटा-जूट में समा गईं। उनकी सारी गति समाप्त हो गई। जटाओं के अंदर उनकी धाराएँ बिखर गईं किन्तु उन्हें बाहर निकलने का कोई मार्ग न मिला। उनका गर्व-भंग हो गया।

तपस्वी भगीरथ पुनः चिंतित हुए। बार-बार उनके पुण्य कार्य में विघ्न आ रहे थे। मनस्वी पुरुष विघ्नों से घबराते नहीं हैं। यत्नपूर्वक उनका उपचार करते हैं। पुनः भगीरथ ने शंकर की वंदना की। शंकर ने दयापूर्वक द्रवित होकर अपनी जटा से गंगा जी को निःसृत किया। हिमालय का तटीय भाग शिवालिक अर्थात् शिव की जटाओं के नाम से प्रसिद्ध हुआ। विभिन्न स्त्रोतों से बहती सरिताओं की छटा आज भी ऐसी ही है जैसे गंगाधर के जटा-जूट के विभिन्न स्तरों से निकलती हुई गंगा की धाराएँ।

भगीरथ दिव्य रथ पर आरूढ़ हो आगे-आगे चले और उनका अनुगमन करती हुई गंगा जी चलीं। इसी कारण उनका नाम भागी-रथी पड़ा। पृथ्वी पर चतुर्दिक आनंदोल्लास छा गया। अनुर्वरा धरती शस्य-श्यामला होने लगी। भगीरथ का मनोरथ पूर्ण होगा, सबको विश्वास हो गया किन्तु दैव उनकी एक और परीक्षा लेने को तत्पर था।

गंगा के मार्ग में राजर्षि जह्नु का तपोवन पड़ा। गंगा-तरंगें ऋषि की पुस्तकें, समिधा, अग्नि काष्ठ बहाती आगे बढ़ीं। तपोवन को जल-प्लावन में नष्ट होते देख जह्नु क्षुब्ध हुए और उन्होंने तपोबल से गंगा की अगाध जलराशि का पान कर उन्हें उदरस्थ कर लिया। अब पुनः भगीरथ के सामने गंगा की मुक्ति का भार आ गया। उनके अनुनय-विनय से करुणार्द्र हो जह्नु ने अपने दाहिने कान से गंगा की धारा को उन्मुक्त कर दिया। जह्नु की काया से पुनः संभूत होने के कारण वे जह्नु-पुत्री अथवा जाह्नवी कहलाईं।

अब भगीरथ एवं भागीरथी का मार्ग प्रशस्त था। गंगा विभिन्न प्रदेशों एवं जन-प्रान्तरों को आप्यायित करती हुई मुनिवर कपिल के आश्रम में पहुँचीं जहाँ उन्होंने साठ-सहस्र सगर-संतानों को सद्गति प्रदान की। तदुपरान्त उन्होंने महोदधि का आतिथ्य स्वीकार किया। राजा भगीरथ कृत-कृत्य हो अयोध्या लौट कर राज-कार्य करने लगे।

मनुष्यों की सद्गति हेतु ही गंगावतरण हुआ अतः आज भी पूर्वजों की अंतिम क्रिया, अस्थि-विसर्जन, पिण्डदान आदि गंगा-कूल एवं धारा में करने की परंपरा है। गंगा सद्यः—फलदायिनी करुणा-मूर्त्ति माता हैं और सहस्रों वर्षों से अपने पुत्रों की अभिलाषा पूर्ण करती आई हैं। यही कारण है कि हर भारतीय भाषा के वाङ्गमय में मुक्त-कण्ठ से कवियों ने गंगा की प्रशस्ति गाई है। लोक-साहित्य तो गंगा-स्तुति से भरा पड़ा है। वेदव्यास, वाल्मीकि, भर्तृहरि, शंकराचार्य, कालिदास, भवभूति, पंडितराज जगन्नाथ प्रभृति संस्कृत के, विद्यापति, तुलसी, पद्माकर एवं रत्नाकर आदि हिन्दी के कतिपय उल्लेखनीय कवि हैं जिन्होंने गंगा-स्तवन द्वारा अपनी लेखनी को धन्य बनाया।

भौगोलिक एवं आर्थिक दृष्टि से गंगा का भारत-देश एवं भारतीयों के लिए अत्यन्त महत्व है। गंगा के बिना भारत की कल्पना ही नहीं की जा सकती है। 13, 800 फीट ऊँचे गोमुख से निकल कर 1, 552 मील लम्बी यात्रा करते हुए गंगा कई शाखाओं में विभाजित हो गंगासागर तथा बांगलादेश के डेल्टा भाग में समुद्र से जा मिलती हैं। गोमुख गढ़वाल हिमालय में उत्तरकाशी जनपद में 30°55' उत्तर अक्षांश एवं 79°7° पूर्वी देशांतर रेखाओं के मध्य स्थित है। इस स्थान के चारों ओर अद्भुत दिव्य हिम-छटा है। भागीरथी पर्वत-शृंखला, हिमालय का सुन्दरतम पर्वत शिखर शिवलिंग एवं थेलू शृंखला इसे अपने अंक में लिए हुए हैं। नीलवर्ण एवं रक्त-वर्ण धाराएँ गोमुख से ऊपर हिमखंडों में समाती हैं एवं अन्य अदृष्ट धाराओं से मिलकर भागीरथी के रूप में गोमुख से प्रकट होती हैं। गोमुख की स्थिति अन्य हिमनदों से विभिन्न है। यहाँ बूंद-बूंद टपक कर हिम नदी की धारा नहीं बनाता है वरन् तेजी से एक चौड़ी धारा प्रवाहमाना होती है। ऐसा लगता है मानों शंकर के जटा-जूट में

समाई, घबराई गंगा मौका पाते ही निकल भागने हेतु सचेष्ट है। जैसे-जैसे गंगा आगे बढ़ती हैं भाँति भाँति की सरिताएँ उनमें मिलती जाती हैं। अलकनंदा से भागीरथी की भेंट देवप्रयाग में होती है। और 'सुखी' नामक स्थान पर हिमवन्त का क्रोड़ छोड़ मैदान में उतरती है। मैदान में उसका स्वागत सर्वप्रथम हरिद्वार अथवा गंगा-द्वार नगर करता है। अंततः 'गंगा-सागर' तीर्थ में वह महोदधि में संविलीन हो जाती है।

पर्वतीय एवं मैदानी भागों में गंगा को जलापूर्ति करने वाली पर्वत श्रेणियों में भागीरथी, नंदा देवी, गुरला-मांधाता, धवलागिरि, गोसाईंथान, सगरमाथा (एवरेस्ट) एवं कंचन-जंघा प्रमुख हैं। बाढ़ के समय इन सब की जलधाराओं से भरी गंगा 18 लाख घन फीट प्रति सेकेंड (क्यूसेक) का प्रस्राव (डिस्चार्ज) करती हुई बहती है जो मिसिसिपी नदी के अधिकतम प्रस्राव से भी अधिक है। कई नहर —प्रणालियाँ इससे निकाली गई हैं। इनमें 'अभिनव-भगीरथ' कॉटले द्वारा निर्मित 'अपर-गंगा-नहर' प्रणाली विश्व की सर्वोत्तम नहर-प्रणालियों में अग्रणी-स्थान रखती है।

आधुनिक समाज-शास्त्रियों का मत है कि गंगा पहले 'त्रिविष्टप' (तिब्बत एवं स्वर्ग, इसके दोनों अर्थ होते हैं) में बहती थी। सगर एवं उसके वंशजों ने बड़ी चेष्टा की कि किसी भाँति भूमि-सिंचन हेतु गंगा की जल-धारा अपने राज्य में लाएँ। इसी चेष्टा में साठ हजार व्यक्तियों ने अपने प्राण गँवाए। आज भी पर्वतीय क्षेत्रों में बाँध, सड़क एवं नहर आदि के निर्माण में कई व्यक्तियों को आत्म-बलिदान देना पड़ता है। भगीरथ ने भगवान शंकर, जो किरातों के अधिष्ठाता थे, को प्रसन्न किया। किरात अथवा मंगोल मूल के व्यक्तियों को बारूद के उपयोग का ज्ञान था। यह तकनीकी ज्ञान प्राप्त करके भगीरथ ने गंगा की धारा को भारतोन्मुख किया। आज अभियंता-गण 'माला-नहर' अथवा 'गारलैंड कैनाल सिस्टम' की बात कर रहे हैं। यदि भारत के मानचित्र में गंगा की स्थिति को ध्यान-पूर्वक देखें तो आप पाएँगे कि यह स्वयं में मालारूपिणी है। जितनी भी नदियाँ, सरिताएँ हिमालय से निकलती हैं, उन्हें अपने अंक में समेटते गंगा आगे बढ़ती जाती है।

यों तो हर प्राकृतिक नदी एवं जल-स्रोत भारतीयों के लिए पवित्र है किन्तु जिस प्रकार स्वअर्जित धन के प्रति मनुष्य का मोह अधिक होता है उसी प्रकार स्व-प्रयत्न द्वारा गंगा को भारत में लाने के कारण उसके प्रति भारतीयों के मानस में विशेष श्रद्धा, प्रेम एवं भक्ति है, ऐसा ये विद्वान कहते हैं।

''राम-नाम'' की तरह ही गंगा-गाथा भी 'अनंत गुन अमित कथा-विस्तार'' वाली है। विविध प्रकार के विबुधगण अपनी भक्ति अनुसार उसकी व्याख्या करते हैं। सत्य क्या है यह तो भगवती ही जानती हैं। अस्तु !

भगवती यमुना सूर्य-पुत्री हैं। सूर्यपत्नी संज्ञा के गर्भ से यम एवं यमी जुड़वाँ (यमक) भाई-बहन उत्पन्न हुए। संज्ञा सूर्य के तेज को सहन न कर सकी और अपनी छाया का निर्माण कर अपने दोनों संतानों को उसकी देख-रेख में छोड़कर देवलोक वापस चली गई। यही तरणि-तनुजा यमी जन-कल्याण हेतु यमुना के रूप में धरती पर बहती है। यमुना और यमराज में बड़ा प्रगाढ़ स्नेह है और उनके इसी निष्कपट प्रेम ने 'यमद्वितीया' या 'भैया-दूज' के त्योहार का सृजन किया। यह पर्व कार्तिक-शुक्ल-पक्ष की द्वितीया को मनाया जाता है।

द्वापर में यमुना की महिमा सर्वोपरि हो गई। इसकी बालुकाराशि में 'घुटरनु चलत रेनु-तनु-मण्डित' आनन्द-कन्द बालमुकुन्द की लीलाएँ हुईं। इसी के तट पर भगवान गौएँ चराते घूमें, यहीं गोपियों के साथ उन्होंने महारास किया। यहीं उनकी बंशी के स्वर गूँजे। इसी के जल में उन्होंने कालियानाग का दर्प-दमन किया। यहीं राधिका, ललिता एवं अन्य ब्रजनारियों के साथ परम आनंद-दायिनी क्रीड़ाएँ कीं। भगवद्-विभूति से भूषिता यमुना हरिप्रिया कहलाई। कृष्णमार्गी भक्त-वृन्द यमुना को अन्य सभी सरिताओं से इस कारण सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। श्रीकृष्ण की लीलाओं से अनुरक्त होकर यमुना भी कृष्णा-कालिंदी हो गई। उसका रंग भी कृष्ण के अनुरूप उज्ज्वल—नीलमणि-स्वरूप हो गया।

उत्तराखण्ड के यमुनोत्री नामक स्थान से यमुना निःसृत होकर उत्तर प्रदेश एवं हरियाणा के बीच सीमा-रेखा बनाती हुई प्रथमतः दणिणाभिमुखी होकर एवं मथुरा के निकट पूर्वाभिमुखी होकर बहती

है। शिवालिक क्षेत्र में टोंस नदी आकर इसमें मिलती है और मैदानी क्षेत्र में चम्बल, बेतवा (वेत्रवती) एवं केन नदियाँ इसमें मिलती हैं। राजधानी दिल्ली, ताजमहल के कारण प्रसिद्ध आगरा, श्रीकृष्ण-लीला-स्थली मथुरा एवं अनेक अन्य ग्रामों तथा नगरों को धन्य करती हुई 855 मील (1,376 कि॰ मी॰) की यात्रा सम्पन्न कर प्रयागराज में वह अपनी अग्रजा गंगा के अंक में समाविष्ट होती है।

यमुना पर भी कई बाँध बनाकर नहरें निकाली गयी हैं जो हरियाणा, दिल्ली एवं उत्तर प्रदेश के असंख्य जन-समुदाय का भरण-पोषण करती हैं। मथुरा के बाद इसकी धारा अत्यन्त क्षीण हो जाती है किन्तु चर्मण्वती, (चम्बल), वेत्रवती एवं केन पुनः उसकी धारा को परिपुष्ट कर देती हैं।

प्रयागराज में यमुना की शोभा अद्वितीय है। प्रखरगामिनी, वेगवती गंगधारा की गति के कारण यमुना की धारा थम सी गई है। अपनी विपुल जलराशि लिए वह गजेंद्र-गति से आगे बढ़ती है। यहाँ यमुना की गहराई अत्यधिक है। कहीं-कहीं साठ फुट तक इसकी गहराई है। गहराई, चौड़े पाट, विशाल जल-विस्तार, ऊँचे कगारों एवं घन-नील वर्ण के कारण यमुना एक सुन्दर सरोवर की भाँति दीखती है।

अन्तः-सलिला सरस्वती की महिमा वेदों ने बार-बार गाई है। उस समय वह प्रकट रूप में थी। वेदों का एक बड़ा अंश सरस्वती तट पर ही ऋषियों के ज्ञान में आया। इसे दृषद्वती अथवा भोगवती भी कहा गया है। कालान्तर में इसकी धारा मरुभूमि में विलुप्त हो गई। इसका एक अंश अब 'घग्घर' के नाम से जाना जाता है।

श्री बद्रीनाथ-धाम के समीप उस क्षेत्र में भारत के आखिरी ग्राम 'माना' के पास भी एक सरिता 'सरस्वती' के नाम से विख्यात है। पांडवों के स्वर्गारोहण के मार्ग में यह सरिता पड़ती है। इसके ऊपर एक बड़ी शिला पड़ी है जिससे एक नैसर्गिक पुल बन गया है। लोकोक्ति है कि भीम ने नदी पार करने के लिए यह शिलाखण्ड वहाँ रखा था। वहाँ सरस्वती बहुत वेग से प्रपात के रूप में प्रवाहमाना है जिससे बहुत अधिक शोर होता है। किंवदन्ती है कि सन्निकट स्थित व्यास गुफा में श्रीकृष्ण द्वैपायन व्यास शास्त्र एवं पुराण-रचना में रत थे। सरस्वती की गर्जना से उनके काम में व्यवधान पड़ रहा था।

उन्होंने बारंबार सरस्वती से अनुरोध किया कि वह धीरे बहे। शोर न मचाए। किन्तु सहज-मुखरा सरस्वती ने सुनी अनसुनी कर दी। व्यास ने कुपित होकर सरस्वती को वहीं तत्काल विलीन होने का शाप दे दिया। सरस्वती वहीं, भीम के पुल के आगे ही, अलकनंदा में विलीन हो गई। अनुनय-विनय करने पर मुनिवर शांत हुए और उन्होंने सरस्वती को वरदान दिया कि वह प्रयाग स्थित त्रिवेणी क्षेत्र में अलकनंदा एवं तत्पश्चात् गंगा के अंकपाश से विमुक्त होकर अपने पूर्ण स्वरूप में प्रकट होकर जन-कल्याण हेतु समर्थ हो सकेगी। आज भी यद्यपि भीम के पुल के पास सरस्वती का मुखर-स्वर सुनाई पड़ता है किन्तु व्यास-गुफा में नहीं।

इन तीनों नदियों को स्कन्दपुराण त्रैलोक्यव्यापी त्रिगुणात्मक प्रकृति के रूप में देखता है—

'सरस्वती रजोरूपा तमोरूपा कलिन्दजा।
सत्वरूपा च गंगात्र नयन्ति ब्रह्म निर्गुणम् ।।'

इन तीनों दिव्य सरिताओं एवं असंख्य अन्य तीर्थों से सुशोभित होने के कारण प्रयाग ने तीर्थाधिपति की पदवी प्राप्त की है—

'कामप्रदानि तीर्थानि त्रैलोक्ये यानिकानि च ।
तानि सर्वाणि सेवन्ते गंगायमुनसंगमम् ।।
(पद्मपुराण)

इसके माहात्म्य से नाना पुराण एवं शास्त्र भरे पड़े हैं। यदि इसकी चर्चा विस्तार से की जाए तो वह एक वृहद् ग्रंथ का रूप लेगी। संक्षेप में इतना ही कहना पर्याप्त है कि प्रयागराज का स्मरण, दर्शन एवं स्नान तथा वास मानव-जन्म की सर्वोच्च उपलब्धि भारतीयों द्वारा मानी गई है। यह मान्यता है कि तीर्थस्थानों में कोई पापाचरण नहीं करना चाहिए क्योंकि उसका कुप्रभाव जन्म-जन्मातर तक पड़ता है। इसका एक मात्र प्रायश्चित इस संसार में प्रयागतीर्थ का सेवन ही हो सकता है—

'अन्यक्षेत्रे कृतं पापं पुण्यक्षेत्रे विनश्यति ।
पुण्यक्षेत्रे कृतं पापं प्रयागे तीर्थ-नायके ।।

प्रयाग की राजैश्वर्यमयी शोभा एवं प्रभुता का अत्यन्त हृदयग्राही वर्णन गोस्वामी तुलसीदास जी ने किया है—

'सचिव सत्य श्रद्धा प्रिय नारी। माधव सरिस मीतु हितकारी॥
चारि पदारथ भरा भंडारू। पुन्य प्रदेस देस अति चारू॥
छेत्रु अगम गढ़ गाढ़ सुहावा। सपनेहु नहिं प्रतिपच्छहि पावा॥
सेन सकल तीरथ बर बीरा। कलुष अनीक दलन रनधीरा॥
संगमु सिंहासनु सुठि सोहा। छत्रु अखयबटु मुनि मनु मोहा॥
चँवर जमुन अरु गंग तरंगा। देखि होहिं दुख दारिद भंगा॥

सेवहिं सुकृती साधुसुचि पावहिं सब मनकाम।
बंदी बेद पुरान गन कहहिं बिमल गुन ग्राम॥

को कहि सकइ प्रयाग प्रभाऊ। कलुष पुंज कुंजर मृगराऊ॥
अस तीरथपति देखि सुहावा। सुखसागर रघुबर सुखु पावा।''

कुंभ-पर्व के समय तीर्थराज की शोभा सार्वभौम सम्राट की हो जाती है। देश-देशान्तर से आए यात्रियों की श्रद्धा-भावना मानों इसे नवल-उज्ज्वल किरीट प्रदान करता है।

□□

3

कुंभ-पर्व की प्रमुख स्नान-तिथियाँ

गंगा-स्नान, विशेषकर प्रयाग-क्षेत्र में, सदैव पुण्यफलदायी है किन्तु कुंभ-पर्व की अवधि में कुछ तिथियों में स्नान की विशेष महत्ता मानी गई है।

सूर्य जब एक राशि को छोड़कर दूसरे के कक्ष में प्रवेश करता है तो इसे संक्रांति कहते हैं। सूर्य की इस चाल को 'अयन' अर्थात् गमन कहते हैं। इसी से उत्तर की ओर चलने को उत्तरायण एवं दक्षिण की ओर चलने को दक्षिणायन कहते हैं। खगोलशास्त्र की दृष्टि से अब यह सिद्ध हो चुका है कि सूर्य गतिमान नहीं होता, पृथ्वी की धुरी के झुकाव एवं उसकी गति के कारण मात्र सूर्य-किरणों का अयन होता है। किन्तु सामान्यतः जन-साधारण अपनी;भाषा में इसे सूर्य का ही संक्रमण कहते हैं। अतः इसी भाषा का प्रयोग यहाँ व्यवहृत है।

जिस राशि पर सूर्य जाता है, संक्रांति को उसी राशि की संज्ञा मिलती है। ये राशियाँ कुल बारह हैं अतः वर्ष में बारह संक्रांतियाँ होती हैं—मेष-संक्रांति, जिसे 'सतुआन' अथवा धान्य-संक्रांति भी कहते हैं, लवण संक्रांति, सौभाग्य संक्रांति, ताम्बूल संक्रांति, मनोरथ संक्रांति, आयु संक्रांति, धन संक्रांति, भोग-संक्रांति, रूप संक्रांति, तेज संक्रांति, अशोक संक्रांति एवं मकर-संक्रांति अथवा "खिचड़ी"।

मकर-संक्रांति

कुंभ-पर्व के समय मकर-संक्रांति पड़ती है। वस्तुतः कुंभ का प्रारंभ ही रवि के मकरस्थ होने पर होता है। सामान्यतः मकर-संक्रांति माघ मास में पड़ता है किन्तु इस वर्ष पौष में पड़ रहा है। उपरोक्त बारह संक्रांतियों में भारत में मेष-संक्रांति एवं मकर-संक्रांति की विशेष महत्ता फसल-चक्र के कारण है। मेष-संक्रांति सामान्यतः चैत्र मास में पड़ता है जब चना, मटर आदि फसलें सुलभ होती हैं

और मकर पौष-माघ में, जब नव-धान्य एवं दाल आदि। अतः मेष में सत्तू खाने व दान देने की रीति है और मकर में खिचड़ी। बिहार में दही-चूड़ा एवं तिल के लड्डू आदि का सेवन इस तिथि से प्रारंभ करने का रिवाज है। वहाँ इसे इस कारण तिल संकांति भी कहते हैं।

वस्तुतः ये दोनों लोक-पर्व हैं। कालान्तर में तिल-पुष्प एवं फल तथा बिल्व-पत्र द्वारा शिवाभिषेक कर षडाक्षर मंत्र, "ॐ नमः शिवाय", का जाप करते हुए रात्रि जागरण करने तथा अगले दिन प्रातः नदी-स्नान तथा पूजा करने से दरिद्रता एवं विपदा का नाश होता है, ऐसी व्यवस्था सुनाग ऋषि ने दी है। बिहार एवं बंगाल में यशोदा एवं कृष्ण की पूजा एवं दधि-मंथन तथा दधि एवं नवनीत दान देने से संतान-लाभ एवं दारिद्य-विनाश होता है, ऐसी धारणा है। सूर्य के उत्तरायण की यह तिथि असम में भोगाली बिहू (माघ बिहू) बंगाल में पौष-पर्वण एवं दक्षिणापथ में पोंगल की संज्ञाओं से भी जानी जाती है।

महाराष्ट्र में विवाहिता-स्त्रियाँ इस तिथि को तेल, कपास एवं लवणादि का दान अपने सौभाग्य की अखण्डता हेतु करती हैं।

संक्रांति में उपवास का नियम नहीं है। ब्रह्म-मुहूर्त्त में उठ कर तिल के तेल से मालिश कर नदी-स्नान करना, तदुपरान्त चन्दन-रेखा द्वारा निर्मित अष्टदल-कमल में भगवान सूर्यनारायण का आवाहन कर उनकी पूजा करना तथा तिल, दधि, धन-धान्य, घृत एवं कम्बल का दान करना, ये इस पर्व की मुख्य विधियाँ हैं।

तिल के उबटन से मालिश, तिल-युक्त जल से स्नान, तिल मिश्रित जल का पान, तिल से हवन, तिल-दान एवं तिल भक्षण, यह तिल संबंधी छः कार्य विशेष फलप्रद होते हैं, ऐसा लोक-विश्वास है।

इस वर्ष पौष मास में ग्रिगेरियन पंचांग के अनुसार 14 जनवरी को यह पर्व पड़ रहा है। इस वर्ष सूर्य, चंद्र, बुध .एवं शुक्र इस तिथि को मकरस्थ होंगे। यह अत्यंत शुभ योग है—

"चंद्रार्क बुध शुक्राणां संयोग शुभगोत्तरः।"

(मानसागरी)

पुत्रदा-एकादशी (पौष)

वर्ष की सभी छब्बीस एकादशियाँ अत्यन्त शुभ तिथियाँ मानी गई

हैं । इस दिन मुख्यतः विष्णु का ध्यान उपवासरत होकर किया जाता है । शैव भी एकादशी को अपने इष्ट की उपासना करते हैं । गृहस्थों के लिए शुक्ल-पक्ष की एकादशी एवं विरक्तों, संन्यासियों, वान-प्रस्थ-व्यक्तियों एवं विधवाओं के लिए कृष्ण-पक्ष की एकादशी विशेष फल-प्रदा मानी गई हैं ।

एकादशी के प्रातः व्रत का संकल्प लेकर स्वाध्याय, ध्यान, जप एवं सत्संग में व्यक्ति को दिन बिताना शुभकर होता है । नदी-स्नान, दान एवं हरि-कथा-श्रवण भी इसके आवश्यक अंग हैं । कुंसग का परित्याग, नशीली चीजों का परित्याग, ताम्बूल-भक्षण का त्याग, लोभ-क्रोध, मत्सर एवं पर-निन्दा आदि का त्याग अनिवार्य है अन्यथा पुण्यफल की प्राप्ति हो दूर, पाप-संभार का ही अभिवंद्धन होगा । दूसरे दिन पूजनादि से निवृत्त हो सुपात्र को भोजन कराने के पश्चात् स्वयं भोजन करने का नियम है । पक्ष के प्रथम चौदह दिनों में विभिन्न प्रकार की भोजन सामग्रियों के भक्षण से क्लान्त जठराग्नि को श्रान्ति देने का यह एक उपाय है । आयुर्वेद एवं आधुनिक चिकित्साशास्त्री भी इसे स्वास्थ्य के लिए गुणकारी एवं दीर्घायु-प्रदायक मानते हैं ।

पौष मास के शुक्ल-पक्ष की एकादशी कुम्भ-अवधि में पड़ेगी । इसे पुत्रदा एकादशी कहते हैं । पुत्राकांक्षी स्त्रियाँ इस दिन विशेष तौर पर व्रत रखती हैं । बालमुकुन्द इस पर्व के इष्टदेव हैं एवं मुख्यतः उन्हीं का पूजन एवं ध्यान किया जाता है ।

प्रदोष-व्रत

'प्रदोष' का शाब्दिक अर्थ है निशा अथवा रात्रि । त्रयोदशी की रात्रि को प्रदोष व्रत रखा जाता है । एक मास में दो प्रदोष व्रत आते हैं । पौष मास के शुक्ल-पक्ष का प्रदोष-व्रत कुंभ की अवधि में पड़ेगा । इसके इष्ट-देव शिव हैं । गृहस्थों के लिए यह आवश्यक है कि पति-पत्नी दोनों ही यह व्रत रखें ।

ईशान-व्रत एवं पौष-पूर्णिमा

पौष-मास शुक्ल-पक्ष की चतुर्दशी तिथि को ईशान व्रत का अनुष्ठान किया जाता है । इस दिन 24 घंटों का उपवास रखकर पौष पूर्णिमा के दिन (अगले दिन) गंगा-स्नान कर, श्वेत परिधान धारण

कर, सफेद कपड़ों से ढँके पूजा-मण्डप में पूर्व में विष्णु, दक्षिण में सूर्य, पश्चिम में ब्रह्मा, उत्तर में शिव एवं मध्य में ईशान की स्थापना कर षोड्शोपचार से पूजा करने एवं सत्पात्र ब्राह्मण को गाय एवं बैल के जोड़े का दान करने पर मनवांछित फल की प्राप्ति होती है, ऐसी धारणा है।

पौष-पूर्णिमा से ही कल्पवास का प्रारंभ होता है। इस दिन कल्पवास का संकल्प लिया जाता है। पूर्णिमा को देवाराधन अधिक फलप्रद माना जाता है इसलिए श्री सत्यनारायण जी की पूजा एवं उनकी कथा सद्गृहस्थ हर पूर्णिमा को सामान्यतः करते हैं।

इस वर्ष ग्रिगेरियन पंचांग के अनुसार 21 जनवरी को पौष पूर्णिमा पड़ रही है।

संकठा-चौथ या संकष्टहर चतुर्थी

माघ मास कृष्ण-पक्ष की चतुर्थी सर्वविघ्नहारी विनायक गणपति की जयन्ती तिथि है। उनकी उपासना से सभी बाधाओं, विघ्नों एवं संकटों का निवारण होता है। श्री गणेश की पूजा, उनके विग्रह पर कुंकुम-सिन्दूर विलेपन एवं उनके स्तोत्र का पाठ इस पर्व की विधि है। दिन भर निर्जल—निराहार रहकर रात्रि को चंद्र-दर्शन के पश्चात् फलाहार करने की विधि है। मोदकप्रिय गणेश जी को प्रसन्न करने के लिए सम्पन्न भक्त तिल एवं गुड़ के लड्डुओं का पहाड़ निर्मित कर याचकों एवं हाथियों को खिलाते हैं।

मौनी-अमावस्या अथवा मुख्य कुंभ-पर्व की तिथि

पूर्णिमा एवं अमावस्या, दोनों तिथियाँ भारतीयों के लिए वैदिक काल से ही विशिष्ट महत्व रखती हैं। वैदिक काल में इन तिथियों में दो हुआ करते थे, जिन्हें सब यज्ञों का आधार माना जाता था। अमावस्या को "दर्श" तथा पूर्णिमा को "पौर्णमास" यज्ञ हुआ करता था। अमावस्या की तिथि को चंद्रमा सूर्य की छाया से पूर्णतः प्रतिच्छादित हो जाता है और तत्पश्चात् पुनः उसकी एक-एक कला बढ़ती है और अंततोगत्वा वह पूर्णिमा को पूर्णत्त्व प्राप्त करता है। इसी प्रकार पुरुष ब्रह्म की कृपा से आच्छादित होने पर शनैः-शनैः तेजस्विता प्राप्त कर पूर्णत्त्व को उपलब्ध करता है। यही सोम-याग है।

"चंद्रमा मनसो जातः।" वेदों के अनुसार विराट् पुरुष के मन से चंद्रमा समुद्भूत हुआ अतः उसका मानस-जगत से सन्निकट संबंध माना गया है। यह वैज्ञानिक तौर पर भी सर्वमान्य है कि चंद्रमा, चंद्र-किरण एवं उसकी घटती-बढ़ती स्थिति मनुष्य के मन पर गहरा असर डालते हैं। मनोवैज्ञानिक यह मानते हैं कि चन्द्रमा मनुष्य की मूल प्रवृत्ति को उदात्त कर देता है। यदि मनुष्य की प्रवृत्ति आनन्दमयी है तो चंद्रमा उसे अधिक आह्लादमयी बनाता है। यदि प्रवृत्ति विकृत है तो यह विकृति और अधिक भीषण हो जाती है। पागलों का पागलपन अमावस्या एवं पूर्णिमा को अत्यधिक बढ़ जाता है। यही कारण है कि अंग्रेजी में "ल्यूना" (चंद्र) से ही "ल्यूनेटिक" (पागल) एवं "ल्यूनेसी" (पागलपन) शब्दों की व्युत्पत्ति हुई।

मौन-व्रत के महत्व से भी हम सब सुपरिचित हैं। मौन रहने से मनुष्य को आत्म-परीक्षण का सुयोग मिलता है। मौनी-अमावस्या को मुनियों के समान मौन रहकर मनुष्य आत्म-चिंतन एवं आत्म-परीक्षण करे एवं एकात्म-भाव से प्रभु का नाम जपते हुए गंगा-स्नान करे, यह विधान है। इससे उसकी सद्-प्रवृत्तियाँ उदात्त होती हैं तथा वह अपना परिष्कार करने में समर्थ होता है। इसीलिए इसे मौनी-अमावस्या कहते हैं।

त्रिवेणी-क्षेत्र में वेणीदान, गो-दान, यज्ञ एवं विविध दान का बड़ा माहात्म्य है। पुरुष वेणीदान में शिखा को छोड़कर अन्य सभी शीर्षस्थ केशों का क्षौर कराते हैं। विधवाएँ भी पूर्ण वेणीदान करती हैं। सधवाएँ अपने केश का मात्र अंतिम भाग के दो अंगुल परिमाण का दान करती हैं।

यही कुंभ-पर्व की प्रमुख तिथि है। लाखों श्रद्धालु देश-विदेश से इस तिथि में स्नानार्थ प्रयागराज आते हैं। इस वर्ष तिथि 5 एवं 6 फरवरी, 1989 ई० को मौनी-अमावस्या का पर्व पड़ रहा है। तिथि 5 फरवरी को अपराह्न 3 बज कर 17 मिनट पर अमावस्या प्रारंभ होगी और 6 फरवरी के 1 बज कर 17 मिनट तक रहेगी। सामान्यतः लोग सूर्योदय से सूर्यास्त तक को दिवस की परिधि मानते हैं। वार-निर्णय के लिए तो यह आधार समुचित है किन्तु तिथि के लिए नहीं। तिथियों की गणना का आधार चंद्र की गति है, सूर्य-स्थिति नहीं।

अतः मौनी-अमावस्या का उपर्युक्त ज्योतिषीय निरूपण ही पुण्य-कार्याचरण के लिए समुचित होगा।

सोमवार की अमावस्या का अत्यंत विशिष्ट महत्व है। महाभारत में शरशैय्या पर लेटे भीष्म-पितामह ने पांडवों को अपना वंश चिर-स्थायी रखने के लिए सोमवती अमावस्या का व्रत रखने का उपदेश दिया था।

गंगा-स्नान कर, रेशमी परिधान धारण कर भगवान विष्णु का पूजन, अश्वत्थ (पीपल) वृक्ष की प्रदक्षिणा, उसे चीर प्रदान करना (कच्चे सूत के धागों से लपेटना), विष्णु-सहस्त्र-नाम का अन्तर्मुखी जाप एवं दान इस तिथि के प्रमुख विधान हैं। अंतर्मुखी जाप की विशिष्टता यह है कि न तो कण्ठ से कोई स्वर निकलता है और न ही मुख खुलता है और न मुख के अंदर जिह्वा हिलती है।

बसन्त-पंचमी या श्री-पंचमी

माघ-शुक्ल-पंचमी को बसन्त-पंचमी कहते हैं। यह ऋतुराज बसंत के आगमन का उत्सव है। इस तिथि से उत्तर भारत में शीत का प्रकोप शांत होने लगता है और वृक्ष-गुल्म-लतादि नव-पल्लव एवं पुष्पों से सुशोभित होने लगते हैं। भारतीयों के सर्वप्रिय फल आम के वृक्षों में मंजरी आने लगती हैं। कवियों ने बसंत की प्रतिष्ठा में अनेकानेक छंद लिखे है। कालिदास के अनुसार बसंत की शोभा से प्रत्येक वस्तु प्रतिभासित हो सुन्दरतर हो जाती है—

'सर्वं प्रिये चारुतरं बसन्ते।'

बसंतोत्सव मूलतः ऋतु-चक्र संबंधित पर्व था, जिसके साथ विभिन्न लोकविश्रुतियाँ एवं पौराणिक कथानक कालान्तर में जुटते गए। बंगाल, बिहार एवं पूर्वी उत्तर प्रदेश में इस दिन विद्या एवं ललित-कलाओं की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती की प्रतिमा की पूजा-अर्चना की जाती है। चतुर्थी को व्रत रखकर पंचमी के प्रातः गंगा-स्नान कर सरस्वती की प्रतिमा, चित्र अथवा कलश स्थापित कर उनकी पूजा करने का विधान है। इस पर्व में बासन्ती वर्ण का परिधान एवं पुष्प देवी भारती को भेंट करने तथा स्वयं धारण करने की विधि प्रचलित है। भारत के पूर्वी भाग में यह पर्व छात्र-छात्राओं द्वारा बड़े हर्षोल्लास

के साथ 'सरस्वती-पूजा' के रूप में मनाया जाता है। बदरी-फल (बेर) एवं कच्चा शकरकंद का प्रसाद इसमें पूजनोपरान्त वितरित किया जाता है जो स्वास्थ्य एवं आनंद का वर्द्धक माना जाता है।

बसंत-पंचमी को कुछ क्षेत्रों में श्री-पंचमी भी कहा जाता है और वहाँ श्री लक्ष्मी-नारायण की युगल-मूर्ति की पूजा की जाती है। पीताम्बर धारण कर अन्य पूजन सामग्री के साथ-साथ अबीर गुलाल आदि से उनकी पूजा की जाती है तथा संगीत-गोष्ठियों का आयोजन किया जाता है। इस दिन नवान्न अथवा नवश्येष्टि का आयोजन भी किया जाता है और लोग नए अन्न से इष्टदेव की पूजा कर उसे प्रसाद रूप में ग्रहण करते हैं।

इस तिथि को बसन्त के सहचर एवं तृतीय पुरुषार्थ के अधिष्ठाता कामदेव एवं उसकी पत्नी रति की पूजा भी दाम्पत्य-प्रेम की अभिवृद्धि एवं गार्हस्थ्य-सुख हेतु की जाती है। प्राचीन काल में बसंतोत्सव को 'मदनोत्सव' भी कहा करते थे। इसी तिथि से होलिका-दहन हेतु निश्चित स्थान पर सम्वत्-प्रतीक एरण्ड-शाखा गाड़ी जाती है और उनके चतुर्दिक लकड़ी व घास-फूस इकट्ठा करने का कार्यक्रम प्रारम्भ किया जाता है।

प्रयाग-क्षेत्र में स्नान कर अन्तःललिला सरस्वती की अर्चना पीत-पुष्पों, नैवेद्य एवं अबीर-गुलाल द्वारा करने की रीति है। इस दिन उपवास नहीं रखा जाता है बल्कि सामान्यतः देवार्चन के पश्चात् सुस्वादु भोंजन किया जाता है।

शीतला-षष्ठी

माघ-शुक्ल-षष्ठी शीतला-षष्ठी के नाम से प्रसिद्ध है। सन्तानोपलब्धि हेतु एवं शिशुओं को आधि-व्याधि से मुक्त रहने हेतु स्त्रियों, विशेषतः बंग-प्रदेश में, यह व्रत करती हैं। देवी के शीतला-स्वरूप की पूजा कर दही एवं बासी भोजन करने की प्रथा है।

अचला-सप्तमी या भानुसप्तमी

माघ-शुक्ल-सप्तमी अचला-सप्तमी एवं भानुसप्तमी दोनों नामों से विख्यात है। सधवा स्त्रियों अखण्ड पातिव्रत्योपलब्धि, रोग-शोक से मुक्ति एवं पारिवारिक आनन्द समृद्धि हेतु भगवान आदित्यनारायण

को प्रसन्न करने के लिए यह व्रत करती हैं। दिन में एक बार भोजन, गंग-स्नान, गंगा में दीपदान, कमल-पत्रों पर सूर्य भगवान का मंत्र लिखकर उनका प्रवाह करना, सूर्याराधन एवं ब्रह्म-भोज इस पर्व के प्रमुख विधान हैं।

कुछ क्षेत्रों में इसे रथ-सप्तमी भी कहते हैं। वहाँ रथारूढ़ भगवान मार्त्तण्ड एवं उनके सारथी अरुण का विग्रह स्थापित कर उनकी पूजा-आराधना की जाती है।

भीष्माष्टमी

माघ-शुक्ल अष्टमी को महाभारत के सर्वाधिक उदात्त चरितनायक भीष्म पितामह को पिण्डदान दिया जाता है। भीष्म आजन्म-ब्रह्मचर्य व्रत धारण करने के कारण निःसंतान मरे। अतः धर्मपरायण व्यक्तियों का कर्त्तव्य है कि जौ, गंध, पुष्प, कुश एवं गंगाजल से उनका तर्पण करें। पुराणों के अनुसार पिता के जीवित रहने पर भी व्यक्ति भीष्म का तर्पण कर सकता है। जिनके जनक स्वर्गस्थ हों उन्हें भीष्म के साथ साथ अपने पितरों का भी तर्पण करना चाहिए। इस कृत्य द्वारा अर्जित पुण्य-फल अभीष्ट फलदायी है। यदि गंगा-तट पर निवास करते हुए भी कोई व्यक्ति ऐसा न करे तो वह दोष का भागी बनता है।

जब रण-भूमि में शरों से क्षत-विक्षत हो भीष्म गिरे और शर-शैय्यारूढ़ हुए तो सूर्य दक्षिणायन थे। इच्छा-मृत्यु का वर प्राप्त होने के कारण भीष्म अपार कष्ट झेलते हुए भी सूर्य के उत्तरायण होने की प्रतीक्षा करते रहे। इस अवधि में उन्होंने युधिष्ठिर को धर्म नीति एवं लोकाचार की अमूल्य शिक्षा दी। अंततः इसी तिथि को उन्होंने शरीर छोड़ा इसीलिए इसे भीष्म-अष्टमी कहते हैं। ऐसे दृढ़व्रती, मनस्वी एवं कालजयी पुरुष को तर्पण देना परम कर्त्तव्य है।

माघ-पूर्णिमा

माघ-पूर्णिमा कल्पवास की पूर्णता का पर्व है। एक मास की तपस्या एवं साधना इस तिथि को समाप्त होती है। कल्पवासी अपने-अपने घरों को वापस लौटने के लिए उद्यत होते हैं। स्वाभाविक है कि संकल्प की सम्पूर्त्ति का संतोष एवं परिजनों से मिलने की उत्सुकता उनके हृदय में उत्साह एवं आह्लाद का संचार करे। इस कारण यह

पर्व बड़े आनन्द एवं उल्लास का पर्व बन जाता है।

ब्रह्म-मुहूर्त्त से ही कल्पवासी गंगा-स्नान कर गंगा-मैया की आरती-पूजा कर अपनी पर्णकुटियों में हवन करते हैं। तदनंतर साधु-संन्यासी एवं याचक-भिक्षुकों को भोजन कराते हैं। जाते समय वे मात्र पाथेय, गंगोदक, रेणुका (गंगा-रज), पूजा-ग्रंथ आदि ही ले जाते हैं। बचा हुआ अन्न, वस्त्र, चटाई-कम्बल आदि दान में दे जाते हैं। जो अगले वर्ष भी कल्पवास के इच्छुक होते हैं वे 'संकल्प' करके प्रस्थान करते हैं।

माघ-पूर्णिमा को क्षीरसागरशायी भगवान पद्मनाभ विष्णु की उपासना विशेषतः की जाती है। इस तिथि को पितरों का तर्पण करने एवं सत्पात्रों को दान देने की विशेष महत्ता है।

महाशिवरात्रि

फाल्गुन-कृष्ण-चतुर्दशी को महाशिवरात्रि पर्व मनाया जाता है। इसी तिथि में शिव का भगवती पार्वती से विवाह हुआ था, अतः यह तिथि उन्हें अत्यन्त प्रिय है, ऐसी मान्यता है।

भारतीय संस्कृति में शिव का अनूठा स्थान है। वे परम ज्ञानी होते हुए भी भोलेनाथ हैं, सभी कलाओं के जनक होते हुए भी परम विरक्त हैं, क्षण भर में दूसरे को ब्रह्माण्ड का ऐश्वर्य देने की शक्ति रखते हैं किन्तु रहते हैं स्वयम् श्मशान में, ऊर्ध्वरेतस् परमयोगी भी हैं और अर्द्धनारीश्वर भी; अशिववेषधारी शिव सौभाग्य के अधिदेवता हैं। पार्वती ने अप्रतिम तपस्या द्वारा उन्हें प्राप्त किया था। कुमारी कन्याएँ इस दिन व्रत रखकर गौरीशंकर की पूजा करती हैं, इस कामना से कि उन्हें भी भोलेनाथ जैसा ही पति मिले जो कभी उन्हें अकेला न छोड़े और उनकी हर इच्छा की पूर्ति करे।

महाशिवरात्रि का पर्व 'नित्य' भी है और 'काम्य' भी। इस व्रत के अनुष्ठान के अधिकारी आबाल-वृद्ध, स्त्री-पुरुष सभी हैं। औढ़र-दानी भगवान आशुतोष का दरबार सभी के लिए खुला है। स्नानोपरान्त पूरे दिन उपवास रखकर बिल्वपत्र, धतूरा एवं आक के फूल, चन्दन, अक्षत, ईख की गँडेरियों तथा सुगंधि-द्रव्य (इत्र), मधु, नवनीत, दूध तथा गंगा-जल द्वारा शिवलिंग की पूजा एवं अभिषेक करना,

रात्रि-जागरण कर रुद्री, शिवपुराण एवं शिव स्तोत्र का पाठ अथवा श्रवण, दान एवं ब्रह्मभोज आदि इस पर्व के मुख्य विधान हैं। यदि निकट में कोई शिवालय न हो तो शुद्ध गीली मिट्टी अथवा बालू से पार्थिव लिंग बनाकर उसकी पूजा-अर्चना से भी वही पुण्य प्राप्त किया जा सकता है। महाशिवरात्रि व्रत द्वारा मनुष्य शिव-सायुज्य प्राप्त कर सकता है।

महाशिवरात्रि द्वादश ज्योतिर्लिंगों के स्थानों पर बड़े समारोह के साथ मनाया जाता है। प्रयाग क्षेत्र में सोमेश्वर महादेव में रुद्राभिषेक एवं रुद्रार्चन सर्वफलदायक माना गया है।

यह कुंभ-पर्व की अंतिम तिथि है। अखाड़े एवं कल्पवासी इसके पूर्व ही प्रयाग क्षेत्र से विदा ले चुके होते हैं। मात्र विरक्त साधु, कुछ अन्य क्षेत्रों के संचालक एवं प्रशासकीय कर्मी शेष रहते हैं। इस तिथि को कुंभ-पर्व की समाप्ति एवं गंगा के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन का समारोह विभिन्न प्रशासकीय इकाइयों द्वारा मनाया जाता है।

उपरोक्त तिथियों में सर्वाधिक महत्ता मकर-संक्रांति, मौनी अमावस्या एवं बसंत-पंचमी की है क्योंकि इन्हीं स्नान-तिथियों में अखाड़ों के शाही-स्नान-जुलूस जिनकी अपनी विशेष छटा होती है, निकलते हैं। इनके सम्बन्ध में अन्यत्र विस्तृत रूप से चर्चा की गई है।

□□

4

कुंभ-चर्या

कुंभ-पर्व-अवधि में प्रयाग-क्षेत्र में पुण्यार्जन-हेतु आए तीर्थ-यात्रियों की क्या दिन-चर्या होनी चाहिए, इसकी विस्तृत चर्चा पुराणों एवं शास्त्रों में की गई है। उनमें से कुछ प्रमुख चर्या-अङ्गों की चर्चा समुचित होगी।

तीर्थ-यात्रा-साधन

तीर्थ-यात्रा मद-मोह, लोभ, ऐश्वर्य प्रदर्शन आदि के त्याग के लिए की जाती है। यात्री को इस यात्रा के संकल्प के साथ ही आरामतलबी की आदत और दिखावे का शौक त्याग देना चाहिए। सामान्य यात्रियों की भाँति ऐश्वर्यशाली एवं शक्तिशाली यात्रियों को भी प्रयाग-

क्षेत्र में वाहन-यान त्याग कर पाँव-प्यादे ही कुंभ-पर्व का पुण्यफल लेने आना चाहिए। यह पर्व पर्यटन, मनोरंजन अथवा 'पिकनिक' नहीं है

वरन् तपश्चर्या एवं त्याग का उपक्रम है। इस संबंध में मत्स्य-पुराण में ब्रह्मर्षि मार्कण्डेय द्वारा दी गई व्यवस्था ध्यातव्य है—

"प्रयाग तीर्थयात्रार्थी यः प्रयाति नरः क्वचित्।
बलीवर्दसमारूढः शृणु तस्यापि यत्फलम्॥
नरके वसते घोरे गवां क्रोधो हि दारुणः।
सलिलं च न गृह्णन्ति पितरस्तस्य देहिनः॥
ऐश्वर्य लोभान्मोहाद्वा गच्छेत् यानेन यो नरः।
निष्फलं तस्य तत्तीर्थं तस्मात् यानं विवर्जयेत्॥"

बैलगाड़ी, घोड़ा गाड़ी या अन्य मोटर गाड़ी जैसे यानों से प्रयाग-क्षेत्र में स्नानार्थ अथवा अन्य धर्माचरण हेतु जाना निष्फल होगा। उलटे यदि इस यान-उपयोग के पीछे शक्ति अथवा ऐश्वर्य के प्रति आसक्ति अथवा प्रदर्शन की भावना हो तो यात्री घोर पाप का भागी होगा।

जो प्रभावशाली व्यक्ति मेला-क्षेत्र में भ्रमणार्थ अपनी गाड़ियों के व्यवहारार्थ 'पास' (अनुमति-पत्र) के लिए सचेष्ट रहते हैं, वे मार्कण्डेय ऋषि के उपदेश पर विशेष ध्यान देने की कृपा करें।

प्रयाग-तीर्थ में प्रथम-कृत्य

प्रयाग क्षेत्र में पहुँचने के उपरांत तीर्थ-यात्री को सर्वप्रथम प्रयाग-राज के अधिष्ठाता श्री वेणीमाधव भगवान का दर्शन करना चाहिए। श्री वेणीमाधव का प्राचीन मंदिर दारागंज मोहल्ले में निराला-मार्ग पर स्थित है। षोडशोपचार अथवा शक्ति-अनुसार उनके पूजन एवं स्तुति करने के उपरान्त उनका, श्री सोमेश्वर, बासुकी, प्रलय के समय बालमुकुन्द भगवान का आश्रय अक्षयवट, शेषनाग एवं उनके इष्ट श्री शंख-माधव, त्रिवेणी-सङ्गम तथा भरद्वाज मुनि का स्मरण कर, उन्हें अपना प्रणाम निवेदित कर यात्री को प्रयाग-क्षेत्र में निवासार्थ प्रवेश करना चाहिए—

"त्रिवेणीं माधवं सोमं भारद्वाजं च वासुकीम्।
वन्दे अक्षयवटं शेषं प्रयागं तीर्थनायकम्॥"

कल्पवास

प्रयाग-क्षेत्र में कल्पवास करने की पुरानी परंपरा है। प्रत्येक वर्ष

माघ-मास में धर्मप्राण व्यक्ति एक मास के लिए कल्पवास करते हैं। कुंभ-पर्व के दौरान कल्प-वास की महिमा और अधिक बढ़ जाती है।

कल्पवास किस तिथि से किस तिथि तक करना चाहिए इसके बारे में विभिन्न मत हैं। कल्प एवं कल्पना दोनों शब्द एक ही धातु से निःसृत हैं। यूँ तो एक निश्चित अवधि तक नियमपूर्वक प्रयाग-क्षेत्र में निवास ही कल्पवास है, चाहे यह अवधि एक रात की हो, त्रिरात्रि की हो अथवा एक मास की—'कल्पः कल्पपर्यन्तः वासः इव वासः यस्य सः कल्पवासः परन्तु सामान्यतः एक मास के वास को ही कल्पवास कहा जाता है। पद्म एवं ब्रह्म पुराणों के अनुसार पौष मास के शुक्ल-पक्ष की एकादशी से कल्पवास प्रारंभ कर माघ-शुक्ल-एकादशी तक कल्पवास करना चाहिए—

"एकादश्यां शुक्लपक्षे पौषमासे सदा भवेत्।
द्वादश्यां पूर्णिमायां वा शुक्लपक्षे समापनम्॥
—ब्रह्मपुराण।
पौषस्यैकादशीं शुक्लामारभ्य स्थण्डिलेशयः।
मासमात्रं निराहारस्त्रिवारं स्नानमाचरेत्॥
त्रिकालमर्चयेद्विष्णुं त्यक्तभोगो जितेन्द्रियः।
माघस्यैकादशी शुक्लां यावद्विद्याधरोत्तम॥
—पद्मपुराण।

विष्णु-पुराण के अनुसार अमावस्या अथवा पूर्णमासी के दिन कल्पवास-व्रत प्रारंभ किया जा सकता है—

"दर्शं वा पौर्णमासीं वा प्रारभ्य स्नानमाचरेत्।
पुण्यान्यहानि त्रिंशत्तु मकरस्थे दिवाकरे॥"

आवश्यक मात्र इतना है कि सूर्य मकर-राशि में स्थित हो।

आजकल पौष-पूर्णिमा से माघ-पूर्णिमा तक एक मास का कल्पवास करने की परंपरा है।

कल्पवास स्वेच्छापूर्वक संकल्पित कठोर तपस्या है। इसके प्रमुख नियम हैं—दिन में एक बार स्वयम् पकाया हुआ स्वल्पाहार अथवा बिना पकाया हुआ फल-मूल आदि का भोजन (ताकि पकाने का झंझट उसे हरि-विमुख न कर सके); प्रमुख पर्वों पर उपवास; तीन बार

गंगा, यमुना अथवा त्रिवेणी संगम में स्नान, त्रिकाल संध्या-वंदन, भूमि-शयन, इंद्रिय-शमन, ब्रह्मचर्य, जप, हवन, देवार्चन, अतिथि-देव सत्कार, गो-विप्र-संन्यासी सेवा, सत्संग, मुण्डन एवं पितरों का तर्पण।

पद्मपुराण में महर्षि दत्तात्रेय ने कल्पवास की व्यवस्था निरूपित की है। इसके अनुसार कल्पवासी को मनसा, वाचा, कर्मणा इक्कीस नियमों का पालन करना चाहिए। ये नियम हैं– सत्य-व्रत अर्थात् असत्य का पूर्ण त्याग, अहिंसा अर्थात् क्रोध का पूर्ण-त्याग; इंद्रियों का शमन (जितेंद्रिय बनना); सभी प्राणियों पर दया-भाव रखना; ब्रह्मचर्य व्रत का पूर्ण पालन अर्थात् आठों प्रकार के मैथुनों का त्याग; तैल· ताम्बूल एवं अन्य विलासिता के उपादानों का त्याग; सभी व्यसनों का त्याग; सूर्योदय से पूर्व शैय्या-त्याग; नित्य तीन बार सुरसरि-स्नान; त्रिकाल-संध्या; पितरों को पिण्ड-दान; यथाशक्ति दान; भरसक मौन धारण कर अन्तर्मुखी जप; हरिकथा श्रवण एवं सत्संग, क्षेत्र-संन्यास अर्थात् संकल्पित तीर्थ-क्षेत्र से इस अवधि में बाहर न जाना; परनिन्दा·त्याग, साधु-संन्यासियों की यथाशक्ति सेवा; निरन्तर प्रभु के नाम का स्मरण, जाप एवं संकीर्त्तन, एक समय भोजन, भूमि,-शयन एवं गंगोदक-सेवन।

श्री दत्तात्रेय कहते हैं—

"अथ ते संप्रवक्ष्यामि माघस्नानविधिं परम्।
कर्तव्यो नियमः कश्चिद्व्रत रूपी नरोत्तमैः॥
फलातिशयहेतोर्वै किंचिद्भोज्यं त्यजेद्बुधः।
भूमौ शयीत होतव्यमाज्यं तिलसमन्वितम्॥
त्रिकालं चार्चयेन्नित्यं वासुदेवं सनातनम्।
दातव्यो दीपकोऽखण्डो देवमुद्दिश्य माधवम्॥
इन्धनं कम्बलं वस्यमुपानदजिनं घृतम्।
तैलं कार्पासकोष्ठं च उष्णां तूलवटीं पटीम्॥
अन्नं चैव यथाशक्ति देयं माघे नराधिप।
सुवर्णं रक्तिकामात्रं दद्याद्वेदविदे तथा॥
परस्याग्नि न सेवेत त्यजेद्विप्रः प्रतिग्रहम्।

यद्यपि इस अवधि में शीत अपने प्रचण्डतम रूप में रहता है तथापि मात्र हवन के समय को छोड़कर अग्नि-सेवन पूर्णतः वर्जित है। नारद-पुराण के अनुसार—

"न वह्नि सेवयेत्स्नातो ह्यस्नातोऽपि वरानने।
होमार्थं सेवयेद्वह्नि शीतार्थं न कदाचन ॥"

तात्पर्य है कि कल्पवासी अपने को सांसारिक सुखों से स्वयं विहीन कर हरि-कीर्त्तन एवं चिंतन-मनन में लीन रखे।
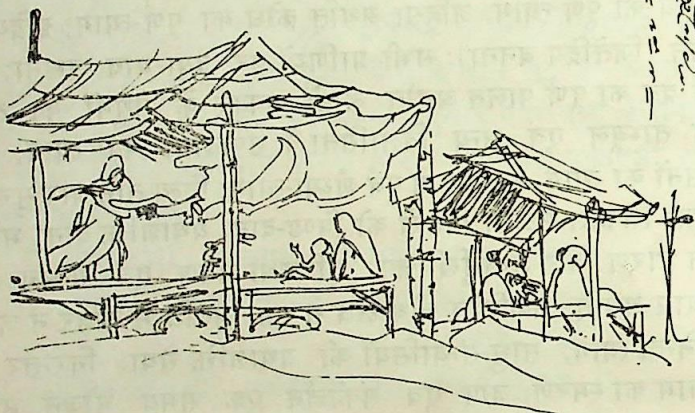
कल्पवास के दौरान गृहस्थों को नित्यशुद्ध रेशमी अथवा ऊनी श्वेत अथवा पीत परिधान धारण करने की सलाह शास्त्र देते हैं। यदि सूती कपड़े हों तो उनकी शुद्धि, प्रक्षालन, धारण के पूर्व अवश्य करना चाहिए।

कल्पवास सभी स्त्री एवं पुरुष बिना किसी भेद-भाव के कर सकते हैं। विवाहित गृहस्थों के लिए नियम है कि पति-पत्नी दोनों एक साथ कल्पवास करें। विधवा स्त्रियाँ अकेली कल्पवास कर सकती हैं।

इस प्रकार के आचरण से मनुष्य अपने अंतःकरण एवं शरीर दोनों का कायाकल्प कर सकता है। यदि अपने थोथे अहंकार एवं सामाजिक अथवा आर्थिक भेद-भाव की भावना उसके हृदय में रही तो कल्पवास के दौरान उसे मात्र कायिक एवं मानसिक कष्ट, क्षोभ एवं कुण्ठा के अतिरिक्त अन्य कुछ भी हस्तगत न होगा।

'कल्प' दो प्रकार का होता है—संकल्प एवं विकल्प। 'सम्' उपसर्ग इसकी ऊर्ध्वगामिनी अंतमुखी गति को इंगित करता है।

और 'वि' उपसर्ग इसकी अधोगामिनी बहिर्मुखी गति को। जो व्यक्ति संकल्प लेता है वह समाधि की ओर बढ़ता है और जो 'विकल्प' का आधार लेता है वह ऊहापोल द्वारा ग्रस्त होकर व्याधिग्रस्त होता है। यही कारण है कि हर कार्य के सम्पादन के पूर्व मनुष्य को संकल्प लेने के लिए शास्त्र प्रेरित करते हैं। आधुनिक काल में भी हर महत्त्वपूर्ण कार्य के पूर्व सर्वत्र संकल्प लिया जाता है। सैन्य-प्रशिक्षण में 'पक्का इरादा'' अथवा संकल्प को सर्वोपरि स्थान दिया गया है। हमारे संविधान की 'भूमिका' (प्रिएम्बल) ही राष्ट्र का संकल्प है। संकल्प के बिना मनुष्य दिशाहीन, दिग्भ्रमित हो जाता है। वह अनेकानेक आसान एवं प्रेयस्कर किन्तु श्रीविहीन विकल्पों के जाल में फँसकर व्याधि-ग्रस्त हो जाता है।

'कल्प शब्द ध्यान में आते ही इसके साथ जुड़े 'कल्पतरु' अथवा कल्पवृक्ष की कल्पना भी मानस-पटल पर उभरती है। कल्पतरु की विशेषता यह है कि इसकी छाया में बैठ कर व्यक्ति जो भी विचार करता है वह तुरंत पूरा होता है। वस्तुतः यह कल्पतरु हमारे अंदर ही है। मन ही कल्पतरु है। यदि दृढ़-मन से संकल्प किया जाए, तो अवश्य उसकी पूर्ति होती है। कल्पवास इस कल्पतरु को सींचता और बढ़ाता है। यदि तीर्थयात्री निर्दिष्ट नियमों का पालन करते हुए कल्पवास करे तो अवश्य वह अपने अन्दर निहित इस कल्पतरु की छाया में निरन्तर वास करने में समर्थ होगा। वह मन को अपने संकल्प के अनुसार ढाल सकेगा, नाना प्रकार के विकल्पों द्वारा जनित अस्थिर-चित्तता की प्रताड़ना से बच सकेगा।

स्नान

कल्पवास में त्रिकाल-स्नान का नियम है। स्नान छः प्रकार के बताए गए हैं--

"ब्राह्माग्नेयमुद्दिष्टं वायव्यं दिव्यमेव च।
वारुणं यौगिकं तद्वत् षोढा स्नानं प्रकीर्तितम्॥"

इन स्नानों की विधियों को स्पष्ट करते हुए कहा गया है—

"ब्राह्मं तु मार्जनं मन्त्रैः कुशैः सोदक बिन्दुभिः।
आग्नेयं भस्मनापादमस्तकादिविधूननम्॥

गवां हि रजसा प्रोक्तं वागव्यं स्नानमुत्तमम् ।
यत्तु सातपवर्षेण स्नानं तद् दिव्यमुच्यते ।।
वारुणश्चावगाह्यं तु मानसन्त्वात्मवेदनम् ।
यौगिकं स्नानमाख्यातं:योगो विष्णु विचिन्तनम् ।।
आत्मतीर्थमिति ख्यातं सेवितं ब्रह्मवादिभिः ।
मनः शुचिकरं पुंसां नित्यं तत्स्नातमाचरेत् ।।

मनु स्पष्टतः कहते हैं कि—

"आग्नेयं भस्मना स्नानमवगाह्यं तु वारुणम् ।
आपोहिष्ठेति च ब्राह्मं वायव्यं गोरजः स्मृतम् ।।"

सामान्य गृहस्थों के तीनों बार गंगा-स्नान ही श्रेयस्कर है। विरक्त, साधु एवं संन्यासी भस्म-स्नान अथवा धूलि-स्नान करके भी स्वच्छ रह सकते हैं।

स्नान का मुख्य उद्देश्य है शुचिता की उपलब्धि। शरीर और चित्त, बाहर और भीतर की शुचिता स्नान द्वारा तभी उपलब्ध हो सकेगी जब सत्य, अहिंसा एवं शील आदि धर्माङ्ग उसके हृदय में स्थित हों। वामन-पुराण के अनुसार—

"आत्मा नदी सँयमतोयपूर्णा सत्याजहा शीलतटा दयोर्मिः ।
तत्राभिषेकं कुरु पांडुपुत्र न वारिणा शुध्यति चान्तरात्मा ।।"

—हे पाण्डुपुत्र, आत्मा की नदी में स्नान करो जो सँयम एवं सत्य से परिपूर्णा है शील जिसके किनारे हैं, जिसमें दया की लहरें उठती रहती हैं, मात्र पानी में नहाने से अंतरात्मा की शुद्धि नहीं हो सकती।

कबीर की अक्खड़ सधुक्कड़ी भाषा में—

"नहाए-धोए क्या भया जो मन मैल न जाय ।
मीन सदा जल में रहे, धोए बास न जाय ।।"

यदि स्वच्छ मन से तथा शिव-संकल्प के साथ यात्री स्नान करेगा तभी तैत्तिरीय संहिता की यह सूक्ति चरितार्थ होगी—"अप्सु स्नाति साक्षादेव दीक्षातपसी अवरुंधे तीर्थे स्नाति," जल में नहाता है, साक्षात् दीक्षा एवं तप से जुड़ता है, तीर्थ में स्नान करता है।

ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्य का सामान्य अर्थ स्त्री-प्रसंग से विरत होकर बिंदु-रक्षा लगाया जाता है। वस्तुतः ब्रह्मचर्य का अर्थ है ब्रह्म की चर्या अर्थात् ब्रह्म में विहार करना। चूँकि कामासक्ति मनुष्य को समष्टि से, ब्रह्म से अलग करती है और मोहाविष्ट करती है अतः काम-चिन्तन आदि आठों प्रकार के मैथुन का निषेध इस व्रत की आचरण-अवधि में किया गया है। निषेधाज्ञा एक प्रकार के प्रतिरोध को जन्म देती है। जिस बात का प्रतिषेध किया जाए, मन बार-बार उसकी ओर प्रतिकूल-प्रतिक्रिया के वशीभूत हो जाने लगता है इसलिए ब्रह्मचर्य-व्रत मूलतः निषेधात्मक न होकर प्रेरणात्मक है। अध्ययन, मनन, सत्संग एवं हरि-स्मरण द्वारा दिव्य-चिंतन में अपने को लीन करने से विषय-चिंतन के लिए न तो समय रहेगा और न ही प्रवृत्ति। व्यसन-त्याग, विलासिता के उपादानों का त्याग, अल्प एवं सादा भोजन, भूमि-शयन आदि तपश्चर्या के साधन इस कार्य में कल्पवासी की सहायता करते हैं। पति-पत्नी साथ-साथ ब्रह्मचर्य में रत रहते हैं तो भौतिक एवं शारीरिक संबंधों से परे उनका दिव्य-स्नेह का संबंध बनता है जो यौवन-जरा सभी स्थितियों में चिर-स्थायी एवं सुखदायी होता है।

सत्संग एवं हरि-स्मरण

कल्पवास में सत्संग, हरि-नाम स्मरण, जप एवं हरि-नाम संकीर्त्तन का बड़ा महत्त्व है। संत-समागम से मनुष्य की दृष्टि में परिवर्तन आता है। संत मनुष्य को प्राणि-मात्र में नारायण की छवि देखने की दृष्टि देते हैं। इससे उसके अहंकार की वृत्ति, अन्य जनों को तुच्छ मानने की प्रवृत्ति, समाप्त हो जाती है। जब सारा जगत प्रभुमय है तो बड़ा कौन और छोटा कौन—'सियाराम मय सब जग जानी, करहुँ प्रनाम जोरि जुग-पानी।' वह सहज ही समदृष्टि प्राप्त कर लेता है।

जप इस कार्य में बहुत सहायक है। योग-सूत्र कहता है—'जपः तदर्थ भावनम्', जैसा जप होगा वैसी ही भावना होगी। भगवान के दिव्य नामों का जाप मनुष्य को दिव्यता की ओर ले जाएगा। यही कारण है कि विश्व के सभी धर्मों एवं संप्रदायों में जप को अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है।
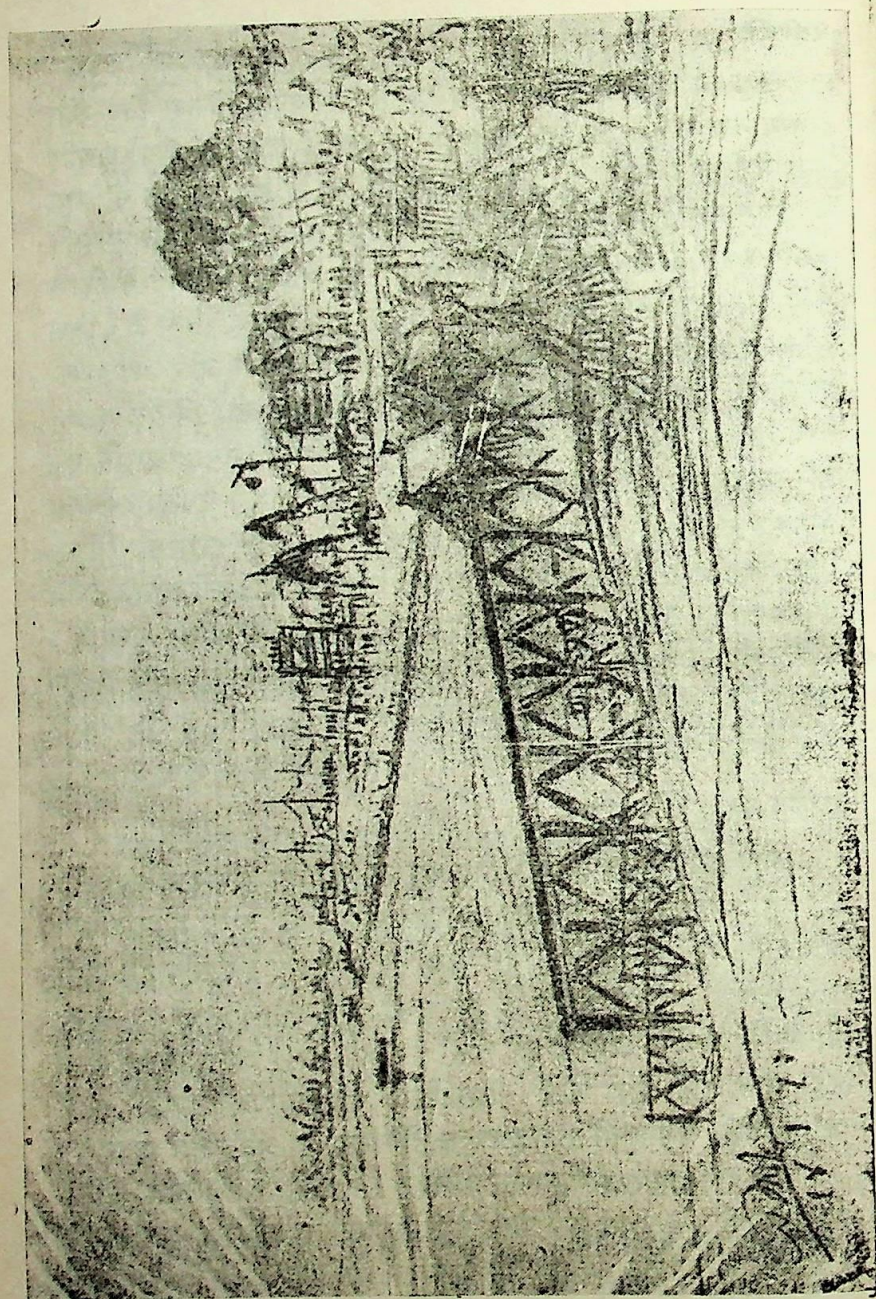
हरि-नाम संकीर्त्तन सर्वाधिक सरल एवं सहज उपाय भगवद्-भक्ति एवं द्वैतावस्था से मुक्ति का है। संगीत की लहरियों में तैरता-डूबता व्यक्ति सहज ही संसार की भौतिकता से हट जाता है और कुछ क्षणों के लिए वह प्रभु का सायुज्य प्राप्त कर लेता है। इसीलिए कलिकाल में भक्ति का यह सबसे सुगम उपाय माना गया है। श्री चैतन्य महाप्रभु ने इसी के जरिए अपने भक्तों का कल्याण किया। उनका अमोघ मंत्र 'कीर्त्तनीयः सदा हरिः' आज भी भक्तों के लिए प्रकाश-स्तंभ का कार्य करता है। स्वयम् भगवान की उक्ति है—

'नाऽहम् वसामि बैकुण्ठे योगिनाम् हृदये न च।
मद्भक्ताः यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥'

कुंभ मेला के दौरान भारत एवं विदेशों से साधु-संत, विद्वान्-ज्ञानी एवं भजन-कीर्त्तन मण्डलियाँ आती हैं। रुचि के अनुसार कल्पवासी उनके सत्संग का सुफल सरलतापूर्वक प्राप्त कर सकता है।

व्रत एवं उपवास

व्रत एवं उपवास भी कुंभ-चर्या के अभिन्न अंग हैं। विभिन्न पूर्व चर्चित स्नान-तिथियाँ एवं उत्सवों के दिन व्रत एवं उपवास रखने का विधान है। आजकल दोनों शब्द एक ही अर्थ में उपयुक्त होते हैं किन्तु इन दोनों में एक सूक्ष्म अंतर है। व्रत का तात्पर्य है निर्धारित संकल्प के अनुसार आचरण करने का अनुष्ठान यथा राष्ट्र-सेवा का व्रत लेना। उपवास का मौलिक अर्थ है भौतिक प्रवृतियों से हटकर आत्मा के सन्निकट वास करना। चूँकि भोजन-त्याग आदि से मनुष्य को दैनिक झंझटों से फुरसत मिल जाती है और वह आत्म-चिंतन में सरलतापूर्वक प्रवृत्त हो पाता है इसलिए इसका सामान्य अर्थ निराहार रहना हो गया है।

व्रत दो कोटि में विभाजित किए जा सकते हैं—काम्य एवं नित्य। काम्य व्रत किसी विशेष अभिलाषा अथवा मनोकामना की पूर्ति के लिए किए जाते हैं। संतान-लाभ, धन-प्राप्ति, पद-लाभ आदि अभीष्ट-फलों के लिए जो व्रत किए जाते हैं उन्हें 'काम्य-व्रत' कहा जाता है। 'नित्य-व्रत' वे हैं जो किसी अभिलाषा की पूर्ति के उद्देश्य

से नहीं किए जाते वरन् आध्यात्मिक उदात्त प्रेरणा से भक्ति एवं प्रेम हेतु किए जाते हैं। 'काम्य-व्रत' आसक्ति से उद्भूत होते हैं, 'नित्य-व्रत' निरासक्ति एवं जन-कल्याण की भावना से। 'नित्य-व्रत' का पालन ही निष्काम-कर्म-योग है अतः इसका स्थान सर्वोपरि है। नित्य-व्रत का व्रती कहता है—

'न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं न पुनर्भवम्।
कामये दुःख-तप्तानां प्राणिनां आर्त्तिनाशनम्॥''

इन व्रतों के साथ पौराणिक एवं लौकिक कथाएँ जुड़ी हुई हैं जो इनके माहात्म्य का प्रकाश करती हैं। कई कथाएँ अटपटी लगती हैं। इनको पढ़ने और सुनते के समय यह ध्यान में अवश्य रखना चाहिए कि ये कथाएँ उस समय रची गईं जब न छापाखाने थे न रेडियो और न टेलिविज़न। जन-साधारण अनपढ़ था। उन्हें दर्शन एवं नीतियों की बारीकियों को समझाने के न तो साधन थे और न साधक। अतः लोकमानस में विभिन्न नीति-परक सिद्धान्तों की स्थापना के महत् उद्देश्य से इन चमत्कारी कथाओं की रचना की गई। आज पर्यावरण की सुरक्षा की महत्ता से हम सब सुपरिचित हैं। वन एवं वृक्षों की रक्षा के लिए विभिन्न प्रचार एवं प्रसार के साधनों का उपयोग किया जा रहा है। प्राचीन काल में इसी उद्देशय से पीपल, वट आदि वृक्षों में भगवान के निवास की बात कही गई थी। वृक्ष को दस-पुत्रों के बराबर बता कर वृक्ष-रोपण एवं संवर्द्धन की प्रेरणा दी गई थी। पर्वत, नदी, सर्पादि जन्तुओं की रक्षा की बात इन्हीं व्रत-कथाओं द्वारा लोक-मानस में पैठाई गई थी। इन व्रत-कथाओं की सार्थकता यह है कि बिना किसी प्रसार-साधन के आज-तक ये कथाएँ जन-साधारण द्वारा याद रखी जा रही हैं और उसकी श्रद्धा एवं आस्था की पात्र बनी हुई हैं।

व्रतों में धर्म के दसों अंगों का पूर्ण-पालन सन्निहित है। मनु के अनुसार ये दस अंग हैं—धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य एवं अक्रोध—

'धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥''

(धृति = धैर्य, दम = स्वार्थ का दमन, शौच = पवित्रता, अस्तेय-चोरी न करना, धी = बुद्धि, अक्रोध = अहिंसा)

व्रतों में भी इसी प्रकार उपरोक्त धर्म-लक्षणों के पूर्ण-पालन पर जोर दिया गया है—

"क्षमा सत्यं दयादानं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
देवपूजाग्निहवनं संतोषस्तेयवर्जनम् ॥
सर्वव्रतेष्वयं धर्मः सामान्यो दशधा स्मृतः ॥

—सभी व्रतों के लिए यह शास्त्रोक्त विधान है कि व्रती क्षमा, सत्य-भाषण, सद्व्यवहार, दया, दान, शुचिता, इन्द्रिय-निग्रह, देवार्चन, हवन, संतोष एवं अस्तेय आदि धर्माचरणों का पालन करे । अपने व्रत अथवा स्वधर्म का पालन न करने से तीर्थ-यात्रा का कोई फल नहीं मिलता । 'स्वधर्म' का उल्लेख कूर्म-पुराण एक विशिष्ट उद्देश्य से करता है। यदि कोई व्यक्ति विशेष कर्त्तव्य हेतु तीर्थ-स्थल पर नियुक्त किया गया है तो उस कर्त्तव्य का पालन ही उसका व्रत है। उसका सही वहन ही उसे तीर्थ-सेवन का फल देगा । यदि कुंभ-मेला में नियुक्त शासकीय कार्मिक उदाहरणतः पुलिस-कर्मी, अभियंता एवं चिकित्सक आदि अपने कर्त्तव्यों का पालन न कर स्वयम् स्नान-ध्यान में प्रवृत्त हों तो वे अपने कर्त्तव्य-व्रत अथवा 'स्वधर्म' से च्युत हो जाएँगे । उन्हें न तो तीर्थ-सेवन का फल मिलेगा और न पुण्य । उलटे इस लोक में उन्हें कष्ट मिलेगा, सजा मिलेगी और परलोक में भी वे पाप के भागी होंगे । कूर्म-पुराण स्पष्टतः कहता है—

यः स्वधर्मान परित्यज्य तीर्थसेवां करोति हि ।
न तस्य फलते तीर्थमिह लोके परत्र च ॥"

उपवास भरसक निर्जल एवं निराहार रह कर करना चाहिए । यदि ऐसा करने की सहन-शक्ति न हो तो जल, दुग्ध अथवा अल्प-मात्रा में फल का सेवन व्यक्ति कर सकता है किन्तु बारंबार इनका सेवन भी अनुचित होगा । उपवास के पूर्व-दिन से मात्र एक बार भोजन कर उदर को विश्रान्ति देना चाहिए । उपवास के पूर्व ठूँस-ठूँस कर खाने से उपवास रखना निरर्थक हो जाता है। उपवास के पारण के दिन भी एक समय भोजन करना उचित है । इस प्रकार एक दिन

के व्रत-उपवास का अर्थ है तीन दिनों के नियमित भोजन-जीवन का प्रारंभ।

सधवा नारियों द्वारा उपवास सामान्यतः नहीं करना चाहिए। यदि पति उपवास न करता हो तो वे कर सकती हैं अथवा दोनों साथ-साथ कर सकते हैं। एक दूसरे की यदि असमर्थता हो तो वे एवज में भी उपवास कर सकते हैं।

देव-पूजन

देव-पूजन के प्रसंग में बार-बार षोड्शोपचार का उल्लेख आता है। इसका अर्थ है सोलह प्रकार से पूजा करने का विधान। भगवान की सोलह कलाएँ मानी गई है। उसी को आधार मानकर यह पूजन-विधि बनाई गई है। कुछ आचार्य अड़तीस उपचारों की विधि बताते हैं किन्तु षोड्शोपचार ही सर्वमान्य है। ये षोड्शोपचार हैं—1. आसन, 2. स्वागत, 3. अर्घ्य, 4. पाद्य, 5. आचमन, 6. मधुपर्क, 7. स्नान, 8. वस्त्र, आभरण, 9. सुगंधि, 10. पुष्प; 11. धूप, 12. दीप, 13. नैवेद्य 14. माल्य, 15. अनुलेपन (चंदनादि) एवं 16. नमस्कार।

जिस प्रकार विशिष्ट अभ्यागत के आने पर हम उसे आसनादि द्वारा सत्कृत करते हैं, उसी प्रकार देवता का भी स्वागत-सत्कार किया जाए यही षोड्शोपचार-विधि का तात्पर्य है।

यदि प्रतिदिन पूजा-अर्चना से सेवित देव-मूर्ति की रात्रि पूजा हो रही हो तो आसन, स्नान, वस्त्र एवं आभूषण (जो उन्हें पूर्वतः अर्पित किए जा चुके हैं) को छोड़ शेष द्वादशोपचार द्वारा भी पूजा की जा सकती है। कहीं-कहीं मात्र अर्घ्य, पाद्य, आचमन, स्नान, वस्त्र, गन्ध, पुष्प, दीप और नैवेद्य (भोजन), इन दशोपचार द्वारा ही पूजा की जाती है। यदि संक्षेप में काम चलाना हो अथवा साधन की कठिनाई हो तो पञ्चोपचार—गंध, पुष्प, धूप, दीप तथा नैवेद्य द्वारा ही पूजा की जा सकती है।

ज्ञानी एवं विरक्त व्यक्ति मानस-पूजा करते हैं। वे भौतिक उपादान न प्रस्तुत कर काल्पनिक उपचारों के माध्यम से देवार्चन करते हैं।

पूजन में सर्वोपरि है पूजक का भाव। "भावग्राही जनार्दनः," ईश्वर भक्त की भावना का ही ग्रहण करता है। इन उपचारों में भी मनुष्य-हृदय की भावना ही प्रतिभासित होनी चाहिए •अन्यथा जगन्नियन्ता भगवान को नश्वर मनुष्य से किसी उपचार की क्या अपेक्षा हो सकती है।

पूजन के पश्चात् विसर्जन की विधि है। यदि उत्सवादि हेतु मृण्मय मूर्त्ति की स्थापना की गई हो तो नदी में उसका विसर्जन कर दिया जाता है।

दान—

कुंभ-पर्व में दान की बड़ी महिमा बताई गई है। त्याग से मनुष्य स्वयं लाभ उठाता है। दान से दान देनेवाले को एवं लेनेवाले, दोनों को लाभ होता है अतः दान त्याग से श्रेष्ठतर माना गया है।

वृहदारण्यक उपनिषद् में एक अत्यंत शिक्षाप्रद उपाख्यान है। एक बार देव, मनुज एवं दैत्यों ने तपस्या की। ब्रह्माजी प्रकट हुए। तीनों ने उनसे उपदेश की याचना की। ब्रह्मा ने मात्र एक व्यञ्जन का उच्चारण किया—'द'। तीनों संतुष्ट होकर लौटे। देवताओं ने सोचा कि वे भोगलिप्सा में अत्यंत संलिप्त रहते हैं इसलिए बार-बार शक्तिहीन हो जाते है, इसलिए ब्रह्मा ने उन्हें "दाम्यत"—अर्थात् संयम से काम लेने के लिए, कहा है। मनुष्यों ने विचारा कि वे अत्यंत लोभी एवं कृपण हैं इसलिए प्रजापति ने उन्हें "दत्त" अर्थात् दान देने का उपदेश दिया है। दैत्यों का मत था कि उनके क्रूर आचरण एवं स्वभाव को देखते हुए ब्रह्मा ने उन्हें "दयध्वम्" का अर्थात् दया करने का उपदेश दिया है। आज भी बादल गरज कर उन्हें इस उपदेश की याद दिलता है—'द-द-द' दाम्यत, दत्त, दयध्वम्।

दान करने से मनुष्य स्वार्थ, छोटेपन एवं संकोच से ऊपर उठ जाता है। दान से आत्मिक सुख मिलता है। अर्थोपार्जन का उद्देश्य ही है दान का सामर्थ्य प्राप्त करना। इसलिए दान की अत्यधिक महिमा है। दधीचि, शिवि, बलि एवं कर्ण अगर जगविश्रुत हैं तो अपनी दानशीलता के कारण ही।

प्रयाग-क्षेत्र में कुंभ-पर्व की अवधि में दिए गए दान की अपनी

विशेष गरिमा है। यह है ही महादान-पर्व, जहाँ चक्रवर्ती सम्राट् भी अपना सर्वस्व दान करने में गौरव की अनुभूति प्राप्त करता था। पुराणों ने प्रयाग में दिए गए दान की भूरि-भूरि प्रशंसा गाई है। उनका कहना है कि यहाँ का अल्प-दान भी वट-बीज की भाँति बढ़ता है—"अल्पदानं फलं चान्न वर्धते वट बीजवत्"। जिस प्रकार धूलिवत् वट-बीज विशाल-महीरुह का स्वरूप ले लेता है उसी प्रकार प्रयाग में दिये गए दान का पुण्य-फल भी वृहत् रूप धारण करता है।

पद्मपुराण प्रयाग में माघ-मास में दिए गए दानों का प्रतिफल का वर्णन करते हुए कहता है—

> "माघेऽन्नदाताऽमृतपः सुरालये,
> हेम्नश्च दाता बलभित्समीपगः।
> दीपाग्निवासांसि ददन्नरः सदा
> सूर्यस्य लोके वसति प्रभामयः।।

त्रिवेणी में गो-दान की महिमा है। दुर्भाग्यवश इस के कारण एक अत्यंत कुत्सित कुप्रथा प्रारंभ हो गई है। पंडे और घाटिए एक कृशकाय बछिया संगम तट पर बाँधे रहते हैं। वे यजमानों को प्रेरित करते हैं कि वे सस्ते मूल्य में उन्हीं से यह बछिया खरीद कर फिर उन्हें ही दान कर दें। बेचारी गो-दुहिता बार-बार जल में खड़ी की जाती है। कुछ दिनों में शीत-पीड़ा से वह काल-कवलित हो जाती है। ऐसा दान वस्तुतः दान देने वाले एवं लेनेवाले दोनों को गोहत्या का घोर पातक लगाता हैं। अतः यात्रियों को कदापि इस पाखण्ड का भागीदार न बनना चाहिए। यथाशक्ति जो भी वे दान करेंगे उसका वृहत् प्रतिफल उन्हें मिलेगा ऐसा शास्त्र का वचन है, फिर इस प्रकार के तमाशे की क्या आवश्यकता है ?

वेणी-दान

प्रयाग का प्रमुख दान है— वेणी-दान। संगम के अधिष्ठाता श्री वेणी-माधव को यह दान अर्पित किया जाता है। इसका तात्पर्य है यात्री द्वारा शिखा के अतिरिक्त सभी केशों का मुण्डन एवं गंगा में प्रवाह। केश के मूल में पाप निवास करता है, ऐसी लोक-धारणा है।

पाप के मूलोच्छेदन हेतु संगम से उत्तम और कौन सा स्थान हो सकता है—

"केशमूलान्युपाश्रित्य सर्वपापानि देहिनाम् ।
तिष्ठन्ति तीर्थस्नानेन तस्मात्तांस्तत्र वापयेत् ।।"

प्रयाग-क्षेत्र में कल्पवास करने पर भी जो मुण्डन नहीं करते हैं वे नरक भोग करते हैं—

गंगायां भास्करक्षेत्रे मुण्डनं यो न कारयेत् ।
स कोटि कुल संयुक्त आकल्पं रौरवे वसेत् ।।

कुछ आचार्यों का कथन है कि त्रिवेणी पर सधवा स्त्रियाँ भी, पति के जीवित रहते हुए भी, मुण्डन करा सकती है—ऐसे आचार्य नापितों के कुल-गुरु रहे होंगे । इनके अनुसार—

"स्त्रीणां समर्तृकाणां तु सर्वपापनुत्तये ।
प्रयागे वपनं कार्यं नान्यक्षेत्रे कदाचन ।।

इसी व्यवस्था के आधार पर दक्षिण-भारत की स्त्रियाँ अपने केशों का यहाँ मुण्डन करवाती हैं । सामान्यतः मात्र दो अंगुलि-परिमाण का केश-दान करने से ही सधवाओं का वेणी-दान सम्पन्न हो जाता है—

"क्षुरकर्म न शस्तं स्याद्योषितां तु वरानने ।
समर्तृकाणां तत्रैव विधिं तासां श्रृणुष्व मे ।।
सर्वान्केशान्समुद्धृत्यच्छेदयेदङ्गुलद्वयम् ।
एवमेव तु नारीणां मुण्डमुण्डन भादिशेत् ।।

प्रथम स्नान कर गीले कपड़ों में ही क्षौर कराने का विधान है । तदुपरान्त पुनः स्नान कर सूखे रेशमी कपड़े पहनकर स्वर्णमयी, रजतमयी, मुक्तामयी अथवा पुष्पमयी वेणी माधव को अर्पित की जाती है । यह दान सभी पापों से तुरन्त मुक्ति दिलाता है । निम्नलिखित मंत्र का पाठ कर वेणी को प्रवाहित कर दिया जाता है—

"वेण्यां वेणी प्रदानेन सर्वं पापं प्रणश्यतु ।
जन्मान्तरेष्वपि सदा सौभाग्यं मम वर्धताम् ।।"

पिण्ड-दान एवं तर्पण

धर्मशास्त्रों के अनुसार मनुष्य को तीन ऋणों का भुगतान करना

पड़ता है—देव-ऋण, ऋषि-ऋण एवं पितृ-ऋण। पिता चूँकि प्रत्यक्ष देवता है इसलिए उसका सबसे अधिक महत्व है। यह ऋण श्राद्ध एवं पिण्ड-दान द्वारा चुकाया जाता है। पुत्र ही श्राद्ध का अधिकारी है। इसीलिए भारतीय समाज में पुत्रैषणा की इतनी प्रबल प्रवृत्ति है। यदि पुत्र न हो तो दौहित्र और यदि वह भी न हो तो परिवार का कोई भी सदस्य यह कृत्य कर सकता है। यदि पुत्रहीन व्यक्ति मर जाए तो उसकी पत्नी श्राद्ध कर सकती है। पत्नी का श्राद्ध व्यक्ति तभी कर सकता है जब उसका पुत्र न हो। यदि कोई भी सगा-संबंधी न हो तो कुछ स्मृति-ग्रंथ कुल-पुरोहित को यह अधिकार देते हैं।

श्राद्ध का अर्थ है श्रद्धा-पूर्वक देना। जिन पितरों ने हमें शरीर, बुद्धि एवं संस्कार दिए उन्हें श्रद्धापूर्वक पिण्ड न देना घोर कृतघ्नता है। प्रत्येक अमावस्या को पितरों की पुण्य-तिथि होती है और उन्हें पिण्डदान दिया जा सकता है। आश्विन की अमावस्या परम-श्रेष्ठ मानी गई है। सामान्यतः पितृ-पक्ष में ही पिण्ड-दान दिया जाता है किन्तु तीर्थराज प्रयाग-क्षेत्र एवं श्रीबद्रीनाथ-धाम स्थित ब्रह्म-कपाल-कुण्ड-क्षेत्र इसके अपवाद हैं। यहाँ अन्य तिथियों में भी पिण्ड-दान एवं तर्पण किया जा सकता है। ब्रह्म-कपाल-कुण्ड-क्षेत्र में तो निर्वंश एवं संन्यासी अपने हेतु भी श्राद्ध-कर्म एवं पिण्ड-दान कर सकते हैं।

प्रयाग-परिक्रमा

प्रयागराज के तीर्थों को तीन कोटियों में रखा गया है—गंगा-यमुना के मध्य स्थित तीर्थ 'अन्तर्वेदी तीर्थ' कहलाते हैं, यमुना के दक्षिणी क्षेत्र के तीर्थ 'मध्यवेदी तीर्थ' कहलाते हैं, और गंगा के पूर्व एवं उत्तर में स्थित तीर्थ 'बहिर्वेदी तीर्थ' कहलाते हैं। इन क्षेत्रों अथवा वेदियों में क्रमशः 44, 17 एवं 13 प्रमुख तीर्थ अवस्थित हैं।

पहले बारी-बारी से इन वेदियों की परिक्रमा का प्रचलन था। श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी ने इसको पुनरुज्जीवित करने का महत् प्रयास किया किन्तु आजकल बहुत ही कम व्यक्ति परिक्रमा करते हैं। यदि संभव हो तो कम-से-कम 'अन्तर्वेदी' की परिक्रमा अवश्य करनी चाहिए। यह परिक्रमा मनुष्य को उसकी त्रिकाल-चिन्ताओं से मुक्ति दिलाती है—

"प्रदक्षिणां त्रयं कुर्यात् प्रयागस्य तु यो नरः।
भूतभव्य-भविष्येदेषु न स शोच्यः कदाचन॥"

ध्वज-स्नान एवं गंगा को वस्त्र-भेंट करना

गंगा में ध्वज-स्नान एवं गंगा को पीत-वस्त्र देने का (पियरी चढ़ाने का) लोकाचार भी है। जिनकी मनौती पूरी होती है अथवा जिनका अनुष्ठान निर्विघ्न समाप्त होता है वे गंगा में ध्वज-स्नान धूम-धाम से कराते हैं। स्नान के उपरांत ध्वजा या तो समारोह पूर्ण वापस ले जाई जाती है अथवा प्रवाह कर दी जाती है।

विवाहोपरान्त नववधुएँ अखण्ड सौभाग्य हेतु अथवा संतानोपलब्धि आदि कामनाओं की सम्पूर्ति होने पर कृतज्ञता-ज्ञापन के रूप में गंगा-माता को "पियरी" अथवा पीतांशुक भेंट करती हैं।

□□

5

प्रयाग के प्रमुख तीर्थ, मंदिर एवं ऐतिहासिक स्थान

त्रिवेणी-तीर्थ की विस्तृत चर्चा की जा चुकी है। प्रयाग के तीनों क्षेत्रों-अन्तर्वेदी, मध्यवेदी एवं बहिर्वेदी में असंख्य तीर्थ-स्थान हैं जिनका वर्णन करना संभव नहीं है। उनमें से अधिकांश तीर्थों के बस अपभ्रंशित नाम ही शेष हैं। कोई भग्नावशेष अथवा स्पष्ट चिह्न प्राप्य नहीं हैं। अत्रि एवं अनुसूया का पवित्र आश्रम 'अतरसुइया' मोहल्ले के रूप में परिणत हो गया है। कर्कोटक नाम का गढ़ 'कड़ा' कस्बा बन गया है। प्राचीन अक्षयवट के चर्तुदिक स्थित मंदिर किले के निर्माण के समय नष्ट-भ्रष्ट हो गए। कई विद्यमान मंदिर भी शनैः-शनैः सर्वभुक् समय के प्रभाव में आकर जीर्ण-शीर्ण होते जा रहे हैं। आवश्यकता है कतिपय दानवीरों की जो इन मंदिरों के जीर्णोद्वार का सत्संकल्प लें।

श्री वेणी-माधव एवं अन्य माधव-तीर्थ

प्रयागराज के अधिष्ठाता हैं श्री वेणी, माधव जो त्रिवेणी संगम-स्थल पर विराजते हैं। गंगा-यमुना एवं सरस्वती की सितासित धाराएँ ही उनका सचल-विग्रह हैं।

श्री वेणी-माधव का प्राचीन मंदिर दारागंज के निराला-मार्ग पर है। इसके इतिहास के संबंध में कोई प्रामाणिक तथ्य उपलब्ध नहीं है किन्तु पाँच शताब्दी पूर्व इसकी विद्यमानता के संबंध में सन्देह नहीं है क्योंकि श्री चैतन्यदेव महाप्रभु जब प्रयाग आए थे तो उन्होंने इस मंदिर में पूजन-कीर्त्तन किया था। भगवान के स्वरूप को देखते ही वे बेसुध होकर घंटों हरि-नाम-संकीर्त्तन करते नाचते रहे।

एक वेणी-माधव मंदिर और भी है जो सिंधिया महाराज द्वारा बनवाया गया बताया जाता है। किंवदन्ती है कि एक बार प्रतापी नरेश श्री माधव राव सिंधिया (प्रथम) प्रयाग पधारे। श्री वेणी-माधव के मंदिर में भीड़ होने के कारण उन्हें दर्शन लाभ न हो सका। अतः उन्होंने इस मंदिर का निर्माण कराया।

प्रयाग में विभिन्न मनोहारी रूपों में श्री विष्णु अपने भक्तों को दर्शन देते हैं। इनमें बारह माधव सर्वोपरि हैं। इनका नाम एवं स्थान के बारे में कई मत-विश्वास हैं। यहाँ जो सर्वाधिक मान्य है उसका संक्षिप्त उल्लेख किया जा रहा है—

(1) श्री वेणी-माधव—त्रिवेणी, चतुष्फलदायी;

(2) श्री अक्षय-माधव—अक्षयवट के उत्तरी भाग में; अक्षय-कीर्त्ति-प्रदाता;

(3) श्री मूल-माधव—अक्षयवट के दाहिने भाग में; आस्था-प्रदायी;

(4) श्री वट-माधव—अक्षय-वट के नीचे; निरंतरता का वरदान देने वाले;

(5) श्री शंख-माधव—झूँसी के पूर्वी भाग शेषनाग (वर्त्तमान छतनाग) क्षेत्र में; माया का नाश करने वाले;

(6) श्री चक्र-माधव—अरैल में, भक्तों की आपदा हरनेवाले;

(7) श्री गदा-माधव—किले के यमुना-फाटक के पास जहाँ कमल का पुष्प अंकित है अथवा मतान्तर से अरैल में; दुष्ट-दलन करनेवाले;

(8) श्री पद्म-माधव—वीकर-देवरिया में, योगियों एवं साधकों के हृदय-कमल में भगवद्-मूर्त्ति स्थापित करनेवाले;

(9) श्री अनन्त-माधव—देवगिरवा में, प्रकाश प्रदान करनेवाले;

(10) श्री बिंदु-माधव—द्रौपदी-घाट के पास, भक्तों को सद्-प्रवृत्ति देने वाले;

(11) श्री मनोहर-माधव—सूरज कुण्ड, जानसेनगंज के पास, धन-सम्पत्ति एवं ललित-कलाओं में प्रवीणता देने वाले;

12. श्री असि-माधव—नाग-वासुकी मंदिर के पास, तीर्थों में उपद्रव करने वाले दुष्टों का शमन करने वाले; जिस प्रकार काशी में श्री काल-भैरवजी 'बनारस के कोतवाल' कहे जाते हैं, वैसे ही प्रयाग के कोतवाल श्री असि-माधव जी हैं।

इन माधव-विग्रहों का दर्शन-पूजन चित्त को पवित्र करता है। यदि वृद्धावस्था अथवा शारीरिक अक्षमता के कारण यह संभव न हो तो प्रयाग-क्षेत्र में वास कर मात्र ध्यान-मात्र से ही दर्शन का पुण्य-लाभ भक्त प्राप्त कर सकते हैं—"माधवोपेक्षते नैव वासमात्रेण तुष्यति।'

अष्ट-तीर्थ-नायक—

"त्रिवेणीं माधवं सोमं,
भरद्वाजं च वासुकिम्।
वन्देऽक्षयवटं शेषं,
प्रयागं तीर्थ नायकम्॥

त्रिवेणी, माधव, सोमेश्वर, भरद्वाज, वासुकि, अक्षयवट, शेषनाग एवं प्रयाग—(यज्ञ-स्थली), ये तीर्थराज के आठ नायक माने जाते हैं। इनमें से प्रथम दो नायकों की चर्चा की जा चुकी है।

सोमेश्वर—

सोमेश्वरनाथ महादेव अथवा सोम-तीर्थ अलर्क-क्षेत्र (वर्त्तमान अरैल) में स्थित है। यह प्रयाग के प्राचीनतम तीर्थों में से एक है। गुरु-पत्नी-गमन के कारण शाप-ग्रस्त हो चंद्रमा क्षयी हो गया। राजयक्ष्मा का रोग उसे लग गया। औषधियों का स्वामी होने के बावजूद वह स्वयं स्वाथ्य-लाभ न कर सका। इस व्याधि से मुक्ति मिली जब उसने इस स्थान पर श्री सोमेश्वरनाथ महादेव की स्थापना की। यहाँ शंकर की उपासना कर मनुष्य असाध्य रोगों से मुक्ति पा सकता है, ऐसी जन-धारणा है। रोगोन्मुक्त हो चंद्रमा सोमवार के दिन दर्शनार्थियों पर अमृत-कणों की वर्षा करते हैं, ऐसा विश्वास है।

सोमवार श्री सोमेश्वर का प्रिय दिन है एवं षडाक्षर-ॐ नमः शिवाय, उनका प्रिय मंत्र।

भरद्वाज आश्रम—

प्रयागराज के 7 नायक देवता हैं किन्तु एक नायक मानव शरीर-धारी भी हैं। ये हैं ब्रह्मर्षि भरद्वाज, जिन्होंने अपने तप एवं ज्ञान से यह परम-पद प्राप्त किया। वे त्रेता काल में प्रयाग में एक विशाल गुरुकुल का संचालन करते थे। इस क्षेत्र में आर्य-सँस्कृति एवं सभ्यता के स्थापक एवं प्रथम प्रचार-प्रसार-कर्त्ता होने के कारण वे प्रातः-स्मरणीय हो गए हैं। इनके आश्रम के संबंध में गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है—

'भरद्वाज आश्रम अति-पावन।
परम रम्य मुनिवर मन-भावन।।

भरद्वाज मुनि वृहस्पति के पुत्र थे। ऐतरेय आरण्यक के अनुसार इन्होंने स्वयम् देवराज इन्द्र से आयुर्वेद एवं व्याकरण की शिक्षा प्राप्त की थी। तत्पश्चात् लोक-कल्याणार्थ उन्होंने दस सहस्र शिष्यों की शिक्षा-दीक्षा हेतु प्रयाग में गुरुकुल स्थापित किया था। भरद्वाज वैदिक ऋषि भी हैं और ऋग्वेद के छठें मण्डल के कई मंत्र इन्होंने ही प्रकट किये हैं। ये 'मंत्र सर्वस्व', अंशु-बोधिनी' एवं 'यंत्रार्वण' नामक ग्रंथों के रचयिता एवं व्याकरण तथा आयुर्वेद के आदि-प्रणेता माने जाते हैं किन्तु कोई कृति पूर्णरूप में उपलब्ध नहीं है।

भरद्वाज सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं राम-कथा के जिज्ञासु श्रोता के रूप में। इनका आश्रम कर्नलगंज मोहल्ले में आनंद-भवन के सामने है। जहाँ इनका गुरुकुल था वहाँ आजकल इलाहाबाद विश्वविद्यालय है। कार्त्तिक, माघ एवं वैशाख स्नान तब तक पूर्ण नहीं माना जाता है जब तक भरद्वाज मुनि का दर्शन न कर लिया जाए। अक्षय-नवमी को इनका दर्शन सुखदायक माना जाता है।

नाग-वासुकी एवं भोगवती तीर्थ—

सर्प-पूजा अथवा नाग-पूजा भारत के मूल निवासियों की संस्कृति का अङ्ग है जिसे आर्यों ने अंगीकृत कर लिया। नाग-कुल से आर्यों के वैवाहिक संबंध होने लगे और शनैः-शनै, उनके आचार-व्यवहारों को मान्यता प्राप्त हो गई। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण प्रयागराज के अष्ट-नायकों में नागराज वासुकी की प्रतिस्थापना है।

सगर-पुत्रों को सद्गति देने के पश्चात् जब गंगा पाताल-लोक गईं तो नागराज वासुकी ने उन्हें अपने फण पर धारण किया। वह क्षेत्र भोगवती तीर्थ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। आजकल यह मंदिर दारागंज में बक्सी मोढ़ा नामक स्थान पर है। स्थापत्य एवं निर्माण की दृष्टि से प्रयाग का यह सबसे सुन्दर मंदिर है। नागराज की विशाल एवं सुन्दर प्रतिभा काले पत्थर पर उत्कीर्ण की गई है। इस मंदिर का जीर्णोद्धार नागपुर के मराठा राजा श्रीधर भोंसले ने कराया था। इसके सामने एक सुन्दर धाट पत्थरों का बना हुआ है। अब बाढ़ के समय ही गंगा-स्नान के लिए यह घाट उपयोग में आता है।

घाट का निर्माण लगभग 200 वर्ष पूर्व श्री झंडीमल खत्री ने कराया था और इसकी मरम्मत आदि के लिए उन्होंने तीन गाँव जमींदारी भी इसके नाम कर दी थी। महर्षि दयानंद सरस्वती जब 1870 ई० के कुंभ में पधारे तब कई शीत-रात्रियाँ मात्र कौपीन में उन्होंने इस घाट में गुजारीं। इस मंदिर के प्रवेश-द्वार के निकट शरशैय्या पर लेटे चिर-ब्रह्मचारी भीष्म पितामह की विशालकाय नवीन मूर्त्ति स्थापित है।

नाग-पंचमी के दिन नागराज की पूजा बड़े धूम-धाम से होती है। उनकी स्तुति का मंत्र है—

"अभिनवतररूपं गूढपादं फणीन्द्रम्
सुनयन श्रुतियुक्तं ख्यातकाकोदरंतम्।
अविदितगतिमन्तं, सर्पराजं, द्विजिह्वम्
सकल भुवनवीरं वासुकिं। त्वां नतोऽस्मि॥"

अक्षयवट—

त्रिवेणी के बाद प्रयाग का सर्वाधिक प्रसिद्ध तीर्थ अक्षयवटहै। पुराणों में तथा शास्त्रों से जहाँ भी सितासित-तरङ्ग-युक्त सङ्गम का उल्लेख हुआ है वहीं श्याम-पत्र-वट, अक्षय-पादप अथवा अक्षयवट का भी उल्लेख अवश्य किया गया है।

पुराणों के अनुसार जब प्रलय में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड जलमग्न हो जाता

है तब मात्र अक्षय-वट ही शेष रहता है। इसी के पत्र पर लघु-बाल-रूप में अपने पैर का अंगूठा चूसते हूए बालमुकुन्द भगवान शयन करते हैं।

अक्षय वट

वे प्रलय-जल के उतरने के बाद पुनः सृष्टि का प्रारंभ करने का आदेश ब्रह्मा को देते हैं। कभी क्षय न होने के कारण इसका नाम अक्षय-वट पड़ गया है।

पुराणों के अनुसार इसकी रक्षा सदैव शूलपाणि महेश्वर स्वयम् करते हैं —'न्यग्रोधम् रक्षते नित्यम् शूलपाणि महेश्वरः।'

पद्मपुराण में अक्षयवट का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

"धत्त ऽभितश्चामर चारुपाणी, सितासिते यत्र सरिद्वरेण्ये।
आद्योवटश्छत्रमिवाति-भाति, स तीर्थराजो [जयति प्रयागः।"

कूर्मपुराण के अनुसार—

"वट मूलंसमासाद्य यस्तु प्राणान् विमुच्यति।
स्वर्गलोकान् अतिक्रम्य रुद्र-लोकम् स गच्छति॥

ह्वेन सांग ने अपने यात्रा-वृत्तांत में इस वृक्ष का विस्तृत विवरण दिया है। उसके अनुसार मोक्ष-प्राप्ति हेतु लोग इसकी शाखाओं पर से कूद कर जल-समाधि ले लिया करते थे। संभवतः उस समय संगम

अक्षयवट के सन्निकट था। अलबेरुनी ने भी इसका वर्णन किया है। यद्यपि वह प्रयाग नहीं आया था किन्तु इस वृक्ष की ख्याति इतनी अधिक थी कि उसने इसका उल्लेख सर्वेक्षण-प्रतीक (सर्वे-मार्क) के रूप में किया है। इसकी बरोहियाँ (हवा में लटकने वाली जड़ें) भूमि में प्रविष्ट होकर स्तंभों का रूप ले चुकी थीं। उससे इसका विस्तार बहुत अधिक हो गया था। इस वृक्ष से कूद कर प्राण देनेवाली प्रथा का भी उसने उल्लेख किया है।

सन् 1310 ई० में प्रणीत ग्रंथ'' जाम-उत तवारीख़'' के रचायिता रशीदुद्दीन ने भी इसका वर्णन एक विशाल एवं विस्तृत वृक्षराज के रूप में किया है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने प्रयागराज का छत्र कहा है—

''संगम सिंहासनु सुठि सोहा। छत्र अछयवट मुनि मन मोहा।।
पूजहिं माधवपद जल जाता। परसि अछयवट हरखहिं गाता।।

अकबर के समय अक्षयवट की स्थिति, उससे कूद कर प्राण उत्सर्ग करने की प्रथा एवं इलाहाबाद के किले के निर्माण का विस्तृत वर्णन अकबर के समकालीन लेखक कादिर बदायूंनी ने किया है।

आत्मोत्सर्ग की प्रथा ने एक मनोरंजक उपाख्यान को जन्म दिया। किंवदन्ती है कि इलाहाबाद के दुर्ग के निर्माण के समय यह वृक्ष दीवार की सीध में आ रहा था अतः अकबर ने इसे कटवाने का आदेश दे दिया। प्रयाग के पण्डों ने इसे बचाने की एक युक्ति सोची। उन्होंने बादशाह को बताया कि पूर्वकाल में सोमेश्वर तीर्थ में एक साधु रहता था जिसका नाम था मुकुन्द ब्रह्मचारी। वह मात्र कच्चा-दूध पीकर जीवन-निर्वाह करता था। एक दिन दूध पीते-पीते उसमें गिरा हुआ गाय का एक रोआँ भी वह पी गया। विचार करने पर उसने सोचा कि उससे भीषण गर्हित पाप हो गया है। गो-रोम गऊ के शरीर का एक भाग है अतः गो-रोम-भक्षण गो-मांस-भक्षण के समक्ष है। प्रायश्चित के लिए उसने अक्षय-वट के नीचे चिता सजा कर अक्षय-वट से कूद कर उसने अपमें शरीर की आहुति दे दी। मरने से पूर्व उसने प्रार्थना की कि प्रभु अगले जन्म में उसे चक्रवर्त्ती सम्राट बनाएँ। यही मुकुन्द ब्रह्मचारी अकबर बादशाह के रूप में पुनर्भूत

हुआ। यद्यपि वह चक्रवर्ती सम्राट हुआ किन्तु गो-रोम-भक्षण के कारण उसे यवन-शरीर मिला। पूर्व-जन्म के पुण्य-फल के कारण वह धार्मिक-प्रवृत्ति का, ज्ञानी एवं सहिष्णु हुआ। इसके संबंध में यह श्लोक बहुत प्रचलित है —

"वसु रन्ध्र बाण चन्द्रे तीर्थराजे प्रयागे
तपसि बहलपक्षे द्वादशी पूर्ववासे।
नख-शिख तनु होमे सर्व भूमाधिपत्यै
सकल दुरितहारी ब्रह्मचारी मुकुन्दः।"

इसके अनुसार सन् 1508 वि० तदनुसार 1451 ई० में मुकुन्द ब्रह्मचारी ने आत्म-बलि दी थी।

यह कहना कठित है कि अकबर ने इस कथा पर कहाँ तक विश्वास किया किन्तु यह सत्य है कि उसने अक्षयवट का एक वृक्षांश —स्तंभ-मूल पर आधारित, छोड़ दिया। किले से घिर जाने एवं राजाज्ञा द्वारा निषेध होने पर आत्म-हत्या की प्रथा भी समाप्त हो गई।

सामान्यतः पण्डे-पुजारी भक्तों को पातालपुरी में अक्षय-वटका दर्शन कराते हैं। वस्तुतः यह एक वट-वृक्ष का कटा हुआ कुन्दा है, वृक्ष नहीं। यह प्रथा 1950 ई० तक चली। इस वर्ष श्री शिवनाथ काटजू भू० पू० न्यायमूर्ति, इलाहाबाद उच्च न्यायालय एवं ब्रिगेडियर जयाल तथा किले के कमान-धारी अधिकारी मेजर कुन्दन सिंह ने वास्तविक अक्षयवट को खोज निकाला। प्रयाग वि० वि० के वनस्पति शस्त्र के विशेषज्ञों ने इसकी जाँच की तो पाया कि वृक्ष के मुख्य तने कटे हुए हैं। मुख्य तने में 500 चक्राकार चिह्न हैं, उसके पार्श्ववर्त्ती तने में लगभल 400 चिह्न हैं। शेष में 200 एवं 100 चिह्न हैं। एक चिह्न एक वर्ष में बनता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि कटने के समय मुख्य तना लगभग 500 वर्ष पुराना था। वर्त्तमान अक्षय-वट जिस पुराने तने से निकला है वह विशेषज्ञ डॉ० श्रीरंजन के अनुसार किला के निर्माण के पूर्व (सन् 1543 ई० के पूर्व) का है।

एक किंवदन्ती के अनुसार मुगल नरेश जहाँगीर ने अकबर द्वारा छोड़े गए अक्षयवट को कटवा कर, तने के शीर्ष भाग को कटवा एवं

जला कर उसके ऊपर एक लोहे का तवा बँधवा दिया था ताकि यह वृक्ष पुनः न पनप सके। किन्तु भारतीय संस्कृति की भाँति इसके जड़ से नई शाखाएँ-प्रशाखाएँ पुनः प्रसूत हुईं और अक्षय-वट का माहात्म्य सब पर प्रगट हो गया। यमुना की ओर जो दुर्ग का प्राचीर है—वहाँ एक कमल का पुष्प आकृत है, वही अक्षयवट की स्थिति को इंगित करता है। इसके दर्शनार्थ दिन सैनिक अधिकारियों द्वारा निश्चित किया जाता है।

अक्षय-वट की यह विशेषता आज भी है कि पक्षी इसमें बसेरा नहीं करते अतः इसके आस-पास का क्षेत्र साफ-सुथरा रहता है। इसके पत्तों की बड़ी मांग रहती है। यह जन-ख्याति है कि इसका पत्ता घर में सौभाग्य-सम्पत्ति लाता है। लॉटरी एवं रेस के शौकीन इसके पत्तों के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। वृक्ष से स्वयं प्राकृतिक रूप से गिरे पत्तों का ही संचयन करना चाहिए। तोड़ कर लेने से वृक्ष को क्लेश पहुँचेगा एवं अभीप्सित की प्राप्ति न होगी।

शेषनाग अथवा शंखनाग-तीर्थ

यह प्रयाग का पूर्व-सीमान्त-बिन्दु है। यहाँ एक पुराना मंदिर है। अब बिड़लाजी द्वारा एक बहुत बड़ा संस्थान निर्मित किया जा रहा है। मंदिर का जीर्णोद्धार एवं पुनर्संस्कार हो गया है।

कथा है कि जब गंगा-यमुना का संगम हुआ तो इस अपूर्व दृश्य को देखने सभी देव-ऋषि-दिव्य-नाग, गंधर्वादि आए। अपने तीर्थाटन की स्मृति में अपने इष्ट देवों की उन्होंने स्थापना भी इस पुण्यस्थल में की। श्री शेषनाग ने यहाँ शंख-माधव की स्थापना की। शेषनाग-क्षेत्र अब तद्भव रूप छतनाग के नाम से प्रसिद्ध है।

ऐसा प्रतीत होता है कि आर्यों के आगमन के पूर्व प्रयाग क्षेत्र नाग-कुल के अधीन था। गंगा के आर-पार वासुकी एवं शेषनाग क्षेत्र तथा यमुना तट पर कम्बल एवं अश्वतर नागों के क्षेत्र यह स्पष्ट करते हैं। ये नागवंशीय जल-संतरण एवं नौका-चालन कार्य में अत्यंत कुशल रहे होंगे—इन क्षेत्रों के मल्लाह आज भी हैं, जिनकी सहायता से देवों एवं दैत्यों ने समुद्र-मंथन अथवा समुद्र पार के क्षेत्रों से व्यापारिक कार्य सम्पन्न किया होगा। जब ये प्रजातियाँ आर्य-संस्कृति में दीक्षित हुई

तो भरद्वाज-प्रभृति ऋषियों की प्रेरणा से उन्होंने अपने इष्टदेवों के मंदिरों का निर्माण किया। आज भी उनकी पावन-स्मृति जन-मानस में अंकित है।

यज्ञ-स्थली प्रयाग अथवा प्रजापति क्षेत्र

जैसी कि पहले चर्चा की जा चुकी है कि प्रकृष्ट रूप से नित्य, नैमित्तिक एवं काम्य यज्ञों के होने के कारण—"प्रकृष्टत्त्वात्प्रयागोऽसौ प्राधान्याद्राजशब्दवान्, इस पुण्य-स्थल की संज्ञा 'प्रयाग' हुई। यहाँ ब्रह्मा ने दस अश्वमेध यज्ञ किए थे। इन यज्ञों की स्थली आजकल दशाश्वमेध-क्षेत्र कहलाता है। यह क्षेत्र दारागंज के सम्मुख का गंगा-तट है। शास्त्रों में इसे ही प्रजापति-क्षेत्र कहा गया है—

"एतत्प्रजापतिक्षेत्रं त्रिषु लोकेषु विश्रुतम्।
अत्र स्नात्वा दिवं यान्ति येमृतास्तेऽपुनर्नभवा॥
(कूर्म पुराण)

इस घाट के समीप ही दशाश्वमेध महादेव का मंदिर है जहाँ श्री चैतन्य महाप्रभु प्रयाग-भ्रमण के समय रुके थे। किंवदन्ती है कि श्री वल्लभाचार्य, जो अरैल में श्रीमद्भागवत पर अपना भाष्य लिख रहे थे, यहाँ आए थे और उन्होंने अपना भाष्य महाप्रभु को दिखाया था।

मत्स्यपुराण में इस तीर्थ एवं स्थिति का विस्तृत वर्णन है। इसके अनुसार वासुकीनाग से उत्तर भोगवती तीर्थ के समीप दशाश्वमेध तीर्थ है। इस उत्तम तीर्थ में स्नान कर मनुष्य अश्वमेध-यज्ञ का फल प्राप्त करता है। वह इस संसार में धनाढ्य, रूपवान, कार्य में दक्ष, दाता एवं धार्मिक स्वरूप प्राप्त करता है। चारों वेदों के स्वाध्याय, सत्यवादिता एवं अहिंसाचरण के जो फल हैं वे अनायास इस तीर्थ की सेवा से प्राप्त होते हैं—

"ततो भोगवतीं गत्वा वासुकेरुत्तरेण तु।
दशाश्वमेधकं नाम तीर्थं तत्रापरं भवेत्॥
कृताभिषेकस्तु नरः सोऽश्वमेधफलं लभेत्।
धनाढ्यो रूपवान् दक्षो दाता भवति धार्मिकः॥

चतुर्वेदेषु यत्पुण्यं यत्पुण्यं सत्यवादिषु ।
अहिंसायां तु यो धर्मो गमनादेव तत्फलम् ।।"

इन अष्ट-नायकों के अतिरिक्त तीनों वेदियों में जो प्रमुख-तीर्थ हैं उनकी सूची परिशिष्ट में दी गई है। यदि विस्तृत विवरण जिज्ञासु पाठक पढ़ना चाहें तो वे 'प्रयाग-माहात्म्य' का अध्ययन करें। यहाँ मात्र कुछ अन्य प्रमुख पुण्य-स्थलों की चर्चा ही संभव है।

अलोपी देवी अथवा अलोप-शंकरी का मंदिर—

दारागंज मोहल्ले के पश्चिमी भाग में ग्रैंड ट्रंक रोड के पास अलोपी-बाग नामक स्थान है। यहीं अलोपी देवी का मंदिर है। यहाँ भगवती अलोप (अदृश्य) रूप में रहती हैं। उनका कोई दृश्य-विग्रह नहीं है। गर्भगृह में एक चबूतरा है जहाँ देवी का प्रतीक, रंगीन वस्त्र, लटकता रहता है। किंवदन्ती है कि यहीं सती का शवाच्छादन गिरा था। एक मत के अनुसार सती की अंगुलियाँ गिरी थीं। इसे अलोप-शंकरी देवी का मंदिर भी कहते हैं। स्थानीय जनता में अत्यंत जाग्रत शक्ति-पीठ के रूप में इसकी प्रतिष्ठा एवं मान्यता है। भगवती के प्रसाद से जो पुत्र उत्पन्न होते हैं उनका नामकरण 'अलोपी दीन' किया जाता है। इस नाम के बहुत से सत्पुरुष प्रयाग में मिलते हैं।

समुद्र-कूप—

झूंसी में गंगा-तट के समीप एक टीले पर, जिसे स्थानीय लोग 'कोट' कहते हैं, एक विशाल एवं गहरा कुआँ है जिसके बारे में यह प्रसिद्ध है कि इसे सम्राट् समुद्र-गुप्त ने खुदवाया था। उन्होंने सातों समुद्रों का 'जल-कूप-प्रतिष्ठा के समय इसमें डलवाया था इसलिए इसका नाम 'समुद्र-कूप' पड़ा।

यह कुआँ बहुत दिनों तक अव्यवहृत रहा। मिट्टी और रेत से से कुआँ आधा भर गया थ। आज से लगभग 107 वर्ष पूर्व अयोध्या के वैरागी साधु बाबा सुदर्शन दास ने इसकी सफाई कराई। उस समय लोग अत्यंत आशंकित थे कि कहीं इसकी सफाई से प्रयाग में प्रलय न आ जाए। उनका विश्वास था कि यह कूप भूमि के अन्दर-अन्दर

समुद्र से जुड़ा हुआ है और प्रलय-काल में समुद्र इसी के माध्यम से उमड़कर प्रयाग को निमज्जित कर देगा। सफाई से उनका यह अंध-विश्वास निर्मूल सिद्ध हुआ।

समुद्र-कूप के टीले के अंदर-जाने का एक संकीर्ण मार्ग है। अंदर में कई छोटी-छोटी गुफाएँ हैं जिनमें विरक्त साधु तपस्यारत रहते हैं।

समुद्र-कूप का उल्लेख मत्स्य-पुराण में मिलता है।

हंस-तीर्थ –

झूँसी में ही हंस-तीर्थ अथवा 'हंस-कूप' है। मत्स्य-पुराण एवं वाराह-पुराण में इसका उल्लेख 'हंस-प्रपत्तन' के नाम से किया गया है। यहाँ भी एक कुआँ है जिसके जल से स्नान, आचमन एवं पान से मनुष्य हंसगति अर्थात् निर्वाण-पद को प्राप्त करता है, ऐसी मान्यता है।

इससे कुछ ही दूर हंस-संप्रदाय के साधुओं का एक आश्रम है। इसकी स्थापना संवत् 1926 वि० में श्री आत्माहंस महाराज ने किया था। इनका पूर्व-नाम श्री ठाकुर प्रसाद था और ये भागलपुरजिले के शाहपुर सोन बरसा के क्षत्रिय जमींदार थे। वैराग्य लेने के उपरान्त भी इन्होंने शिखा-सूत्र का परित्याग नहीं किया था। वे श्वेत-वस्त्र धारण करते थे। इस संप्रदाय के साधु-गण अभी भी इन रीतियों का अनुसरण करते हैं।

इस आश्रम में स्थापत्य के माध्यम से विभिन्न तांत्रिक सिद्धांतों, यथा षट् चक्र-भेदन, ध्यान-योग पद्धति आदि का निरूपण किया है। आश्रम का स्वरूप पान के पत्ते की तरह है। आहाते की दीवार पर एक हज़ार छोटे-छोटे कंगूरे बने हुए हैं जो 'सहस्र-दल-कमल' का प्रतीक प्रस्तुत करते हैं।

झूँसी एवं उसके अन्य प्रमुख-स्थान

झूँसी अत्यंत प्राचीन स्थल है। इसका पुराना नाम प्रतिष्ठान-पुर था। मत्स्य एवं लिंग-पुराणों, वाल्मीकि रामायण एवं देवी-भागवत में इस स्थान का वर्णन मिलता है। यह सुप्रसिद्ध चंद्र-वंशीय क्षत्रियों का मूल-स्थान है। यहाँ के महाराज इल अज्ञानवश भगवान शंकर की विहार-स्थली में चले गए थे जहाँ के लिए शिवाजी ने यह व्यवस्था

कर दी थी कि जो भी प्राणी वहाँ आए वह स्त्री रूप में परिणत हो जाय ताकि देवी पार्वती को संकोच न हो। महाराज इल इला के रूप में परिणत हो गए। उन पर चन्द्रमा-पुत्र बुध अनुरक्त हो गया। इस प्रकार बुध एवं इला के संयोग से उत्पन्न हुआ चंद्रवंश। उनके पुत्र थे पुरूरवा जिनके रूप एवं गुणों पर लुब्ध हुई थी देवाङ्गना उर्वशी और जो कालिदास के 'विक्रमोर्वशीयम्' के नायक हैं। पुरूरवा के अनंतर आयु, उनके पश्चात् नहुष एवं उनके बाद ययाति इस वंश के प्रसिद्ध राजा हुए।

इला के नाम पर ही इस प्रदेश का नाम इलावर्त्त अथवा इलावास पड़ा। संभवत; इसी के आधार पर अकबर ने प्रयाग का नाम इलाहाबाद रखा। चंद्र-वंश को ऐल वंश भी कहते हैं। अब इस वंश के क्षत्रिय यहाँ नहीं रहते। यह अवश्य प्रसिद्ध है कि रीवाँ के बेनवंशीय एवं प्रतापगढ़ के सोमवंशीय क्षत्रियों का एवं अल्मोड़ा के जोशी ब्राह्मणों का मूल स्थल प्रतिष्ठान पुर अथवा झूँसी ही है।

वर्त्तमान नाम 'झूँसी' क्यों पड़ा इसकी एक मनोरंजक कथा है। कहा जाता है कि यहाँ एक राजा था हरबोंग, जिसकी बुद्धि निराली थी। उसके राज्य में 'टके सेर भाजी, टके सेर खाजा' था। गुरु गोरखनाथ एवं उनके गुरु मत्स्येन्द्रनाथ इस अंधेर नगरी में पधारे। राजा की उलटी-सीधी हरकतों से क्रुद्ध हो उन्होंने कुपित नयनों से इस नगरी की ओर दृष्टि की। नगरी झुलसकर ख़ाक हो गई। इसी से 'झौंस जाने के कारण' (जल जाने के कारण) इसका नाम 'झौंसी' एवं कालान्तर में 'झूँसी' पड़ गया। भारतेंदु हरिश्चन्द्र ने इस दंतकथा के आधार पर एक अत्यंत मनोहर नाटिका 'अंधेर-नगरी' लिखी है।

मुसलमानों के अनुसार सन् 1359 ई० में एक सूफी संत सैयद अली मुर्तज़ा के शाप के कारण भयंकर भूचाल आया और यह नगरी उलट गई।

झूँसी को उर्वशी-तीर्थ भी कहते हैं। एक बार ब्रह्मा ने उसकी निर्लज्जता से रुष्ट हो उसे पृथ्वी-वास का शाप दे दिया था। फलस्वरूप वह पुरूरवा की रानी बन कर प्रतिष्ठानपुर में रहने लगी। कालांतर में वह गंगा-स्नान एवं ईश्वराधना से शाप-मुक्त हो पुनः स्वर्गलोक में जा सकी।

झूँसी के अन्य प्रसिद्ध धार्मिक स्थानों में बाबा गंगागिरि की कुटी, तीर्थराज संन्यासी पाठशाला, बाबा दयाराम की कुटी, गंगोली तिवारी का शिवालय एवं श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी का 'संकीर्त्तन-भवन प्रमुख हैं।

अलर्क (अरैल) के प्रमुख धार्मिक स्थान—

यमुना के दक्षिणी तट पर एक छोटा गाँव बसा हुआ है जिसे अरैल या अड़ैल कहते हैं। यह प्राचीन अलर्क-पुरी हैं जो सत्यसाधक महाराज अलर्क – जिन्होंने अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करने के लिए स्वयम् अपनी आँखें निकाल कर दे दी थीं, द्वारा बसाई गई थी। यहीं भगवान शंकर का आनन्द-वन था जहाँ त्रुटिवश प्रविष्ट हो जाने के कारण महाराज इल स्त्री बन गए थे।

मत्स्य एवं कूर्मपुराणों के अनुसार यहाँ 'कम्बल' एवं 'अश्वतर' नागों द्वारा स्थापित दो तीर्थ हैं। अष्ट-नायकों के वर्णन के समय श्री सोमेश्वर नाथ महादेव की चर्चा की जा चुकी है। इस मंदिर के पास संवत् 1674 वि० का एक शिलोत्कीर्ण हस्ताक्षर है जो जयपुर नरेश महाराजा मानसिंह के स्वहस्ताक्षर पर उकेरा गया बताया जाता है।

इसके अतिरिक्त यहाँ आदि-माधव, चक्र-तीर्थ एवं पक्षीतीर्थ स्थान हैं। पक्षी-तीर्थ में देवसेनापति कुमार स्कन्द के विग्रह की भी पूजा होती है जो उत्तर-भारत में विरल है। कुमार षण्मुख अथवा कार्त्तिकेय दक्षिण-भारत में सुब्रहमण्यम् अथवा मुरुगन के रूप में जाने जाते हैं एवं सर्वाधिक लोकप्रिय इष्टदेव हैं। उत्तर-भारत में देवी-पूजन के समय इनकी मिट्टी की मूर्ति स्थापित की जाती है जो बाद में विसर्जित कर दी जाती है। इनकी नियमित पूजा-अर्चना प्रदेश में संभवत; मात्र इसी स्थान पर होती है।

अरैल में वल्लभ-सम्प्रदाय का एक प्राचीन मठ हैं जहाँ श्री वल्लभ स्वामी ने चातुर्मास किया था और जहाँ श्री गौराङ्ग महाप्रभु भी पधारे थे। श्री मद्भागवत पर भाष्य श्रीबल्लभ स्वामी ने यहीं लिखा था। 'अष्ट छाप' कवि श्री परमानंद दास ने यहीं 'परमानंद-सागर' की रचना की थी। यह भी किंवदन्ती है कि प्रसिद्ध संस्कृत विद्वान कात्यायन भी यहीं उत्पन्न हुए थे।

आधुनिक काल में एक प्रसिद्ध साधक 'सच्चा बाबा' ने एक सुन्दर आश्रम की स्थापना की। यह ज्ञात हुआ है महर्षि महेश योगी भी अपना आधुनिक आश्रम यहाँ स्थापित करने जा रहे हैं।

वस्तुतः अलर्क अत्यंत प्राचीन एवं पावन तीर्थ-भूमि है। यहाँ अवैध मदिरा के व्यापार के कारण विद्वान एवं तपस्वी व्यक्ति आने से हिचकिचाते रहे जिसके कारण इसकी महत्ता कम होती गई। आशा है कि शीघ्र ही छतनाग की तरह यह क्षेत्र भी अपने प्राचीन महत्व को प्राप्त कर लेगा।

किला एवं पातालपुरी-मन्दिर

वर्त्तमान लाल चुनारी पत्थरों का बना हुआ इलाहाबाद का किला बादशाह अकबर का बनवाया हुआ है। उन्होंने इस किले का निर्माण सामरिक, एवं आवास दोनों उद्देश्यों से बनवाया था। अतः इसकी योजना एवं निर्मिति अत्यंत सुन्दर थी। बक्सर के युद्ध के बाद जब यह क्षेत्र एवं यह दुर्ग ईस्ट इंडिया कम्पनी के अधिकार में आया तो अंग्रेजों ने इसके कंगूरों, मीनारों एवं बुर्जों को तोड़ कर दीवारों की चौड़ाई बढ़ाई। उन्होंने इसे पूर्णतः शस्त्रागार एवं सामरिक दुर्ग में बदल दिया। मात्र 'चेहल सुतून' (चालीस खंभों का महल) अकबर-कालीन इमारतों में से बच गया है। यह किला अब भी सेना के अधिकार में है। यदि यह पर्यटन-विभाग के हाथ में हो तो इसका रख-रखाव पर्यटन-स्थल के रूप में किया जा सकता है और इलाहाबाद में पर्यटन-उद्योग के विकास में इसका अमूल्य योगदान हो सकता है।

इस किले की नींव अकबर ने 1583 ई० में रखी थी। इसके चार खण्डों में 23 महल, 3 ख्वाबगाह (शयनागार), 25 दरवाजे, 23 बुर्ज, 277 रिहायशी मकानात, 176 कोठरियाँ, 2 बड़े हॉल (ख़ासोआम), 77 तहखाने, 20 तबेले, 1 बावली, 5 कुएं और 1 यमुना से लाई गई नहर थे। इस पर लगभग छः करोड़ सवा सत्रह लाख रुपये खर्च हुए थे। सन् 1782 तक ये भवन खड़े रहे। अंग्रेजों की तोड़-फोड़ 1838 ई० में समाप्त हुई। तब से अब तक कोई विशेष परिवर्त्तन नहीं हुआ है।

किला के साथ ही साथ बेनी-बाँध भी बना था। किले के निर्माण

के संबंध में एक दंत-कथा है कि गंगा बार-बार किले की नींव को बहा ले जाती थीं। चिंतित हो अकबर ने ज्योतिषियों से इसका कारण एवं निदान पूछा। ज्योतिषियों ने बताया कि जब तक किसी सदाचारी एवं विद्वान ब्राह्मण की बलि नहीं दी जाएगी, गंगाजी किले का निर्माण नहीं होने देंगी। शर्त्त यह थी कि ब्राह्मण स्वेच्छापूर्वक आत्म-बलिदान के लिए तैयार हो। यह शर्त्त एक टेढ़ी खीर थी। अंततोगत्वा एक पंडा इस कार्य के लिए उद्यत हुआ। उसकी शर्त्त थी कि मात्र उसके परिवार को ही तीर्थ-पुरोहिताई का शाही फ़रमान मिले। अकबर ने उसकी शर्त्त मान ली, उसने अपनी बलि दी एवं किले का निर्माण हुआ।

किले के अंदर प्रयाग का पुरातात्त्विक दृष्टि से प्राचीनतम वस्तु 'अशोक-स्तंभ' है। पहले यह स्तंभ कौशांबी से लगा हुआ था और बाद में यह प्रयाग लाया गया, ऐसा कुछ पुरातत्त्वशास्त्रियों का मत है। लेकिन कब और किसके द्वारा ? यह किसी ने स्पष्ट नहीं किया है। यह अनुमान लगाया जाता है कि फ़ीरोज़शाह तुग़लक, जो पंजाब से एक अशोक-स्तंभ दिल्ली ले गया था, ने संभवतः यह कार्य किया हो। अन्य विद्वानों का अभिमत है कि प्रयाग के धार्मिक महत्व को देखते हुए सम्राट अशोक ने संगम के निकट इस स्तंभ को स्थापित किया होगा।

यह स्तंभ 232 वर्ष ई० पू० में अशोक के राज्यकाल के 26 वें वर्ष में स्थापित किया गया था। इस पर सम्राट् अशोक, उनकी महाराज्ञी, समुद्रगुप्त, जहाँगीर एवं राजा बीरबल के लेख उत्कीर्ण हैं। अन्य बहुत से यात्रियों ने भी इस पर अपना नाम एवं भ्रमण तिथि अंकित कर दी है। यह स्तंभ कई बार भूशायी हुआ और बार-बार खड़ा किया गया। वर्त्तमान दशा में यह स्तंभ 1838 ई० में खड़ा किया गया।

सम्राट् अशोक के छः अभिलेख इस स्तम्भ पर उत्कीर्ण हैं। उसकी समदर्शिता का परिचय उसके छठवें अभिलेख से ज्ञात होता है। इसमें वह कहता है कि वह जिस प्रकार अपने बंधु-बांधवों के हित-रक्षण के लिए सचेष्ट रहता था उसी प्रकार दूसरों के लिए, दूरस्थ स्थित प्रजा के लिए भी कार्यरत रहता था—"हितसुखे ति पटिवेखामि अथ (इयं ना) या (ति) पा (सु) (हेवं) पतिया संनेसु हेवं अपकठ (ठे) स (सु) किम (मं) कानि स (सु) खं अ (आ) वहामि (मी) ति तथ (था) चं विदपो

(हा, मी, मि) हेवं मेव सडु (व) (नि) कों (का) येसु पटिवेखामि।"
(कोष्ठक के शब्द अन्य शिला-लेखों से रिक्त-स्थान की पूर्ति हेतु लिए गए हैं।)

चक्रवर्ती सम्राट समुद्रगुप्त के अश्वमेध यज्ञ की समाप्ति के उपलक्ष में उसके दरबारी कवि हरिषेण ने बहुत ही प्राञ्जल भाषा में उसके दिग्विजय का वृत्तांत एवं उसके शौर्य की प्रशस्ति लिखी थी जो इस स्तंभ के एक भाग में उत्कीर्ण है।

इसकी भाषा-शैली का एक उदाहरण ध्यातव्य है—"भवनगमनावाप्त ललितसुखविचरण-माचक्षाण इव भुवो बाहुरय-मुच्छ्रितः स्तम्भः यस्य प्रदानभुजविक्रमप्रशमशास्त्रवाक्योदयैरुपर्युपरि सञ्चयोच्छ्रितमनेकमार्ग्गयशः" (स्वर्ग जाकर लालित्य एवं सुख में पृथ्वी विचरण कर रही है, यह बतलाने वाला यह स्तंभ पृथ्वी के ऊँचे हाथ जैसा है। जिसके (समुद्रगुप्त के) दान, भुजविक्रम, शांति तथा शास्त्र-वाक्य के उदय से अनेक मार्गों वाला यश ऊँचा उठता जा रहा है।)

बीरबल के लेख में संवत् 1632 वि० में उसके तीर्थराज प्रयाग आने का मात्र उल्लेख है। यह हिन्दी भाषा एवं नागरी लिपि में है।

जहाँगीर ने स्तंभ को एक स्थान पर छिलवाकर अपनी वंशावली फारसी लिपि में लिखवाई है। यह लेख 1605 ई० का है। यह उसके राज्यकाल का प्रथम वर्ष था।

इस किले में ही अकबर ने धर्म एवं दर्शन पर विभिन्न धर्म एवं संप्रदाय के आचार्यों से चर्चा एवं विचार-विमर्श करने की अपनी प्रथा का शुभारंभ किया। अबुल फजल के अनुसार प्रसिद्ध संत नरहरिदास से अकबर की भेंट यहीं हुई थी। दोनों में 'जीवदया' विषय पर विस्तृत चर्चा हुई। संत नरहरिहास ने 'गो-पत्रिका' अर्थात् गो-माता का आवेदन-पत्र सम्राट् को दिया जिसे पढ़कर उसने गो-हत्या पर पूर्ण पाबन्दी लगा दी। यह गो-पत्रिका पठनीय है—

"तृण जो दंततर धर्राहि तिन्हैं मारत न सबल कोई।
हम नित प्रति तृण चर्राहि बैन उच्चर्राहि .दीन होइ॥
हिन्दुहि मधुर न देहिं कटुक तुरकैन पिआवहिं।
पय सुविसुध अति स्रवहिं बच्छ महिथम्भन जावहिं॥

सुनु शाह अकब्बर अरज यह कहत गऊ जोरे करन।
सो कौन चूक मोहिं मारियतु मुए चाम सेवहिं चरन।।"

इसी किले में पुर्त्तगाली पादरी वेन-डिट्टी आया था। वह चाहता था कि अकबर को धर्मान्तिरित कर क्रिस्तान बना ले। अकबर स्वयम् धर्म-प्रवर्त्तक बनने का अभिलाषी था, अतः वह असफल रहा।

पातालपुरी-मन्दिर

किले के पूर्वी भाग में एक विशाल तहखाने में यह मंदिर स्थित है। इसके इतिहास के बारे में प्रामाणिक तौर पर कोई तथ्य नहीं मिलते। पुराणों में इसका कोई उल्लेख नहीं आता है। कुछ विद्वान इसे ह्वेन-सांग के वृत्तांतों में वर्णित वह मंदिर मानते हैं जिसके आंगन में अक्षय-वट खड़ा उसने देखा था किन्तु स्थापत्य अथवा मूर्त्ति-कला में उस युग की झलक नहीं दिखाई पड़ती है।

जनश्रुति के अनुसार इसका निर्माण महाराज विक्रमादित्य ने किया था। एक मत के अनुसार अकबर ने अपनी हिन्दू रानियों तथा उनकी परिचारिकाओं की धर्मोपासना हेतु यह मंदिर तहख़ाने में किले के निर्माण के समय बनवाया। बाद में अन्य मुगल बादशाहों ने प्राचीन मूर्त्तियों को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया तथा इस मंदिर को बंद कर दिया।

इस मंदिर के पुनरुद्धार का श्रेय मराठा पेशवा बाजीराव को जाता है। परवर्ती मुगल बादशाह मुहम्मद शाह रंगीले के समय जो मुगल-मराठा संधि हुई उसमें कई पुराने तीर्थ-स्थलों में हिन्दुओं को पूजा-अर्चना का अधिकार उन्हें वापस दिए जाने की भी शर्त्त थी। इस शर्त्त को पूरी तौर से लागू करने के लिए पेशवा की माता राधा बाई उत्तर-भारत के सभी प्रमुख तीर्थों की यात्रा पर निकलीं। इलाहाबाद के किलेदार मुहम्मद खां बंगश ने उनका स्वागत किया। बाजीराब पेशवा ने उनकी प्रेरणा पर इस मंदिर का जीर्णोद्धार किया। यही कारण है कि अधिकांश देव-मूर्त्तियाँ इसी काल की हैं। इसी शैली की मूर्त्तियां बाजीराव कटरा, मिर्जापुर के शिवाले में भी विद्यमान हैं। इसके बाद यह मंदिर बंद नहीं हुआ, यह सन् 1776 ई० एवं 1832 ई० के दो शिला-लेखों से इंगित होता है।[3]

यह अन्तर्गृह 84 फीट लम्बा एवं 49½ फीट चौड़ा है और इसकी

छत $6\frac{1}{2}$ फीट ऊँचे 100 खंभों पर टिकी है। गणेश, धर्मराज, नृसिंह, गोरखनाथ आदि की 18 वीं-19 वीं शताब्दी की बड़ी-छोटी बहुत सी मूर्त्तियाँ रखी हुई हैं। कहीं-कहीं शिवलिंग भी हैं। एक आले में अक्षय-वट का प्रतीक, लाल कपड़े में लिपटा एक कुन्दा रखा हुआ है। इसे वृक्ष का स्वरूप देने के लिए पुजारी किसी भी बरगद के पेड़ की टहनी और पत्ते तोड़कर इसमें खोंस देते हैं।

1906 ई० तक यह मंदिर अंधकाराच्छन्न रहता था। यात्रियों को पुजारी दीपक की ज्योति में पूजा-पाठ कराया करते थे। बाद में प्रकाश एवं हवा के लिए छत में कई खिड़कियाँ खोल दी गईं और निकलने का अलग रास्ता भी बना दिया गया है।

बड़े हनुमान जी—

किले के पास श्री हनुमान जी की एक बहुत बड़ी प्रतिमा लेटी हुई अवस्था में स्थापित है जो बड़े हनुमानजी के नाम से प्रसिद्ध है। उनका सिर उत्तर दिशा की ओर है। बाएँ पैर के नीचे-पातालीश्वरी कामदा देवी हैं और दाहिने पाँव से उन्होंने अहिरावण को दबा रखा है। दाहिनी भुजा की छाया मकरध्वज के ऊपर है। बाएँ हाथ से उन्होंने श्री राम एवं लक्ष्मण को संभाल रखा है।

इस प्रतिमा के संबंध में एक कथा प्रचलित है। जब श्री राम रावण का संहार करने के पश्चात् अयोध्या वापस लौट रहे थे तो त्रिवेणी-पूजन हेतु प्रयाग में उतरे। उन्हें अयोध्या की स्थिति, विशेष कर भरत की मनः स्थिति जानने की बड़ी जिज्ञासा हुई। इस कार्य के लिए भला 'ज्ञानिनामग्रगण्यं' श्री हनुमत् जी के अतिरिक्त और कौन उपयुक्त हो सकता था। श्री वज्रांग प्रभु तत्काल गए। भरत से भेंट की। प्रभु के लौटने की सूचना वहाँ दी और लौट कर श्री राम को बताया कि किस उत्कण्ठा से श्री भरत एवं अन्य अयोध्यावासी उनकी प्रतीक्षा कर रहे हैं।

जगज्जननी सीता श्री हनुमान पर बड़ा अनुग्रह रखती थीं। उन्होंने यह शुभ समाचार सुन कर श्री हनुमान से वर माँगने को कहा। श्री हनुमान ने इच्छा प्रकट की कि रामावतार की समाप्ति के

पश्चात् उन्हें विश्राम एवं स्नान की आज्ञा दी जाए। लंकादहन एवं ब्रह्मास्त्र आदि दिव्यअस्त्रों को निरन्तर झेलने के कारण उनका शरीर क्लान्त एवं ताप-पूर्ण हो रहा है। प्रसन्न हो जानकी माता ने उन्हें प्रयाग-राज में विश्राम की अनुमति दी एवं गंगा से निवेदन किया कि वर्ष में एक बार-स्वयम् चल कर श्री हनुमान जी का पूर्णाभिषेक किया करें। त्रेता की समाप्ति के बाद से यहाँ हनुमान जी विश्राम कर रहे हैं। हर वर्ष बरसात में गंगा जी स्वयं आकर उन्हें पूर्णतः निमज्जित कर देती हैं। जिस वर्ष ऐसा न हो, भयंकर दुर्भिक्ष पड़ता है।

इस मंदिर के पास एक पीपल का पेड़ है जिसकी शाखें झुकी हुई हैं। जब ये शाखें बाढ़ के पानी को छूने लगती हैं तो इन्द्र-दमन का उत्सव मनाया जाता है। मान्यता है कि श्री हनुमान इससे ऊपर इन्द्र को जल वर्षा की अनुमति नहीं देते ताकि प्रयाग-नगर में जल-प्लावन न हो जाए। अतः यदि इंद्र ने सीमोल्लंघन करने की चेष्टा की, तो वे उसका दमन करते हैं। इंद्र की अंतिम सीमा इस पीपल सबसे नीची टहनी है। उसको छूते ही बजरंग-बली उसका दमन कर देते हैं। जल-स्तर घटने लगता है'।

इस मंदिर के पास किले की दीवार टेढ़ी है। कहा जाता है कि किले और बाँध के निर्माण के समय महावीर-प्रतिमा को हटाने का बहुत प्रयास किया गया था, किन्तु असफलता ही हाथ लगी। फल-स्वरूप किले एवं बाँध दोनों की रेखाओं में ही परिवर्त्तन करना पड़ा। ऐसा लगता है कि श्री हनुमान जी की प्रतिमा किसी विशाल शिला-खण्ड के ऊपर उत्कीर्ण की हुई हैं। गंगा के मैदानी भाग में भी कहीं-कहीं पुरानी आग्नेय चट्टानें अभी तक विद्यमान हैं जैसे बिहार में अज गैबीनाथ की चट्टानें।

कालान्तर में यह मूर्ति गंगा-रज से ढँक गई थी। औरंगज़ेब के समकालीन बाघम्बरी बाबा ने इस मंदिर का जीर्णोद्धार किया। ये बड़े सिद्ध तापस थे। सदैव व्याघ्र-चर्म धारण करने के कारण उनका नाम बाघम्बरी बाबा एवं उनके पश्चात् उनके नाम पर इस मंदिर की प्रबंध-संस्था का नाम 'बाघम्बरी गद्दी' पड़ गया। वे संगम-क्षेत्र के निवासी थे। किम्वदन्ती है कि उनकी सिद्धियों से प्रभावित होकर

औरंगजेब ने अल्लापुर में काफी भूमि दान में दी थी।

इस मूर्ति के संबंध में यह भी जनश्रुति है कि एक घनाढ्य सेठ संतानहीन था। वह श्री महावीर का विग्रह नाव में ले जा रहा था। नाव इस स्थान पर आकर फँस गई और टस से मस न हुई। फलस्वरूप उन्हें यहीं स्थापित करना पड़ा।

श्री हनुमान जी के इस तेजस्वी स्वरूप का सुन्दर वर्णन एक कवि ने इस प्रकार किया है—

"लङ्कातङ्कात्त शङ्काकुलदनुजवधू-भ्रूणविभ्रंशनार्थं
दम्भारम्भाय जम्भार्यनुसरण कृतां पुच्छविस्फोटशब्दः
हन्नानन्ताधिसन्तापितसकल जनानन्दनायोज्जिहानो
दद्यादद्यानवद्यान्युदयंविलसितान्याञ्जनेयस्य तूर्णम् ॥

मंदिर प्रातः 5 बजे मंगला आरती के साथ खुलता है और अपराह्न 2 बजे तक खुला रहता है। पुनः शृंगार आरती के साथ सायं 5 बजे खुलकर रात्रि 8. 30 बजे बंद होता है। प्रत्येक दिन सवा किलो घी, इतना ही सिंदूर एवं चमेली के तेल से वज्रांगदेव का लेपन किया जाता है तथा गंगाजल एवं दूध से स्नान कराया जाता है। मंगल एवं शनिवार को इनका दर्शन अत्यंत शुभकर माना जाता है। लाल वस्त्र, लाल झंडा, लड्डू एवं सिंदूरी पुष्प श्री हनुमान जी को अधिक प्रिय हैं अतः यही चीजें उन्हें अर्पित की जाती हैं।

श्री शंकराचार्य-मण्डपम्—

बेनी बाँध पर सर्वाधिक भव्य यह मंडप पिछले दशक में बना है। यह दाक्षिणात्य-स्थापत्य-शैली का एक सुंदर उदाहरण है। संगम-क्षेत्र पर ही आदि शंकर का प्रथम महत्त्वपूर्ण शास्त्रार्थ प्रसिद्ध नैयायिक कुमारिल भट्ट से हुआ था। उस समय कुमारिल भट्ट बौद्ध-गुरुओं से प्रच्छन्न रूप से, कपट द्वारा विद्यार्जन करने के पाप का प्रायश्चित्त त्रिवेणी में तुषाग्नि (भूसे की आग) में अपना शरीर भस्म कर के कर रहे थे। कष्ट के कारण उन्होंने शास्त्रार्थ में अपनी अक्षमता बताते हुए अपने पट्टशिष्य मंडन मिश्र से शास्त्रार्थ करने की सलाह श्री शंकराचार्य को दी। दर्शन-जगत के दो दिग्गजों की इस भेंट की

स्मृति के रूप में इस भव्य मण्डप का निर्माण अद्वैत मतावलम्बियों ने किया है। इसमें आदि शंकर के साथ-साथ सभी मुख्य देवी-देवताओं की प्रतिमाएँ स्थापित हैं और विधिवत् उनका शृंगार-पूजन दाक्षिणात्य-विधि से होता है। यह मंदिर तीर्थराज के दरबार में दक्षिणापथ के राजदूत सरीखा दीखता है।

आनंद-भवन

इलाहाबाद में आधुनिक भारतीयों के लिए एक और तीर्थ-स्थल है। यह है आनन्द-भवन जहाँ भारत के हृदय-सम्राट पं० जवाहरलाल नेहरू का लालन-पालन हुआ और जहाँ श्रीमती इंदिरा गाँधी का जन्म एवं पालन-पोषण हुआ। भारतीय-स्वतंत्रता-संग्राम के दिनों यह मुक्ति संघर्ष का केन्द्रविन्दु था। अब इसे एक संग्रहालय का रूप दे दिया गया है। यहाँ जाकर सहज ही पं० नेहरू सदृश स्वतंत्रता-संग्राम के सेनानियों के प्रति श्रद्धा से यात्री नतमस्तक हो जाता है। यह स्थान भरद्वाज आश्रम के सन्निकट है।

इलाहाबाद शहर में श्री हनुमत्-निकेतन, शिवकोटि, ललिता-पीठ आदि अन्य कई तीर्थ स्थान हैं। श्रद्धालु भक्त बहिर्वेदी परिक्रमा के समय इनका भी दर्शन करते हैं। यहाँ श्री रामचन्द्र भगवान एवं उनके समस्त परिवार एवं पुरजनों का पदार्पण हुआ था। ऐतिहासिक युग में युग-प्रवर्त्तक आदि शंकर यहाँ दो बार पधारे। भक्त-मुकुटमणि श्री चैतन्य महाप्रभु ने यहाँ लगभग 10 दिन निवास किया। यहीं उन्होंने श्री रूप गोस्वामी को दीक्षा दी। पुष्टि-मार्ग के संस्थापक श्री वल्लभ भट्ट यहाँ रहे। संतों में अग्रणी तुलसी एवं कबीर ने भी इस तीर्थ की सेवा की। सिक्ख मत के आदि गुरु श्री नानक देव जी महाराज भी यहाँ पधारे थे। श्री रामानंद एवं श्री रामानुज अपनी भक्त मण्डलियों के साथ यहाँ कई बार आए। संत तुकाराम ने भी प्रयाग वास किया। हिन्दू पद-पादशाही के पुनर्संस्थापक छत्रपति शिवा जी महाराज भी आगरा से युक्तिपूर्वक बंधन-मुक्त होकर इस इस तीर्थ का दर्शन करके ही पुनः महाराष्ट्र गए थे।

इस प्रकार सृष्टि के प्रारंभ से यह तीर्थराज देवों, नागों, सिद्धों, एवं संतों द्वारा पूजित एवं बंदित रहा है। □□

6

अखाड़े एवं अन्य विशिष्ट समुदाय

"अखाड़ा" शब्द का सामान्य अर्थ है मल्लयुद्ध अथवा कुश्ती का अभ्यास-स्थल। कुंभ के संदर्भ में इसका अर्थ बिलकुल बदल जाता है। यहाँ साधुओं के उन संगठनों को 'अखाड़ा' कहते हैं जो धर्म-रक्षा हेतु शंकराचार्य एवं अन्य आचार्यों ने स्थापित किए थे। इनके सदस्य मात्र विरक्त संसारत्यागी साधु नहीं होते। ये "शापादपि-शरादपि' सिद्धांत पर विश्वास रखते हैं एवं धर्म-रक्षा हेतु शस्त्र-धारण एवं शस्त्र-संचालन की कला सीख कर अभ्यास रत रहते हैं। मध्ययुग में धर्मान्ध विधर्मियों से कई बार लोहा लेकर इन्होंने सनातन धर्म की रक्षा की। इनकी इस अनूठी परम्परा के कारण ही इन्हें 'अखाड़ा' की संज्ञा मिली।

अखाड़ा-संगठन का सूत्रपात आदि-शंकर के समय में हुआ। उनकी विद्वत्ता की प्रखरता के सामने कोई अन्य मतावलम्बी टिक नहीं सका। बौद्ध, नैयायिक, कापालिक एवं अन्य सम्प्रदायों के आचार्य शंकर से शास्त्रार्थ में पराजित हो गए। उनके पृष्ठपोषक राजा उनके स्थान पर अद्वैत मत में दीक्षित होने लगे। जब ज्ञान के क्षेत्र में उनका जोर न चल सका तो उन्होंने हिंसा का सहारा लेना चाहा। अज्ञानी एवं मूर्ख व्यक्तियों का वितण्डा एवं पाशविक बल सदैव सहारा रहे हैं। उन्होंने आदि-शंकर एवं उनके प्रमुख अनुयायियों पर हमला कर उनकी हत्या करने के कुचक्र का उपक्रम किया। अनुयायी राजाओं एवं एक बार स्वयं भगवान नृसिंह ने उनकी रक्षा की। कर्मनिष्ठ शंकर कब तक दैवालम्ब का भरोसा करते। इस प्रकार के तत्वों से अद्वैत मत के प्रचारकों एवं उसकी सँस्थाओं की रक्षा हेतु उन्होंने शस्त्रधारी ब्रह्मचारी संन्यासियों की सेना गठित की। उनके पट्ट शिष्य

श्री सुरेश्वराचार्य, जो पहले मण्डन मिश्र के नाम से विख्यात थे, ने अपने गुरुदेव की इच्छा को क्रियान्वित किया। उन्होंने दशनामी संन्यासियों की श्रेणी का सूत्रपात किया। यहीं से संन्यासी अखाड़ों की गौरवमयी परम्परा प्रारंभ हुई।

मध्यकाल में जब भक्ति-संप्रदाय फला-फूला तो इसी के अनुकरण में भक्तिमार्गी वैष्णव आचार्यों ने भी साधुओं की सेना बनाई। इन्हें 'वैरागी' कहते हैं।

भारत में जब-जब इसके धर्म एवं सँस्कृति पर किसी ने आघात किया तो ये अखाड़े उसका मुकाबला करने के लिए सन्नद्ध हुए। दुर्भाग्यवश सर्वोच्च स्थान प्राप्त करने की होड़ में शैव एवं वैष्णव साधु आपस में भी टकराते रहे। कुंभ-पर्व के समय प्रथम स्नान के अधिकार को लेकर दोनों साधु-समाजों में कई बार तुमुल-संघर्ष हुआ। आख़िरी संघर्ष 1906 ई० के कुंभ में हुआ जिसकी चर्चा पूर्वत की जा चुकी है। सौभाग्यवश अब सभी अखाड़ाओं ने एक 'अखाड़ा-परिषद्' का गठन कर लिया है जिसका निर्णय सर्वमान्य होता है। इसके द्वारा वे अपने मतभेद दूर कर लेते हैं। अब उनका आपसी व्यवहार सौहार्दपूर्ण एवं सहकारिता की भावना से ओत-प्रोत रहता है।

दशनामी संन्यासियों के सेनानायक मुगल-काल के अवसान-काल में बड़े शक्तिशाली हो गए थे। विभिन्न स्थानों के नवाब एवं सूबेदार उनसे मैत्री-संबंध रखने में ही अपनी कुशलता मानते थे। ये महन्त राजसी ठाट-बाट से रहते थे और उनके हल्के में उन्हीं का राज्य रहता था। श्री हिम्मत बहादुर एवं श्री अनूप गिरि इतने शक्तिशाली थे कि अवध के नवाबों ने उन्हें समकक्ष मित्र के रूप में स्वीकार किया था और दोनों में संधि-संबंध थे। इसी संधि-संबंध के अन्तर्गत पानीपत की तीसरी लड़ाई में जब अवध की नवाबी फ़ौज अब्दाली की सहायतार्थ गई तो उसमें नागा संन्यासियों की एक टुकड़ी भी गई। इस भयङ्कर युद्ध में जो मराठे सैनिक वीरगति को प्राप्त हुए उनके अंतिम-संस्कार की व्यवस्था इन्होंने ही की थी। झाँसी, ग्वालियर तथा उज्जैन में इनके बड़े क्षेत्र थे। एक कथा के अनुसार उज्जैन में इनकी

प्रभुता इतनी बढ़ी कि ये सिंधिया-दरबार की अवहेलना करने लगे। फलस्वरूप सिंधिया ने अपनी फौजें भेज कर इनकी गद्दी घिरवा ली। चूँकि संन्यासी अवध्य एवं अदण्डनीय होता है अतः किसी को दण्ड तो नहीं दिया किन्तु इनके स्थान की सारी सम्पति हर ली। इस सम्पत्ति को राज-कोष में न रखकर उसने इसी से मथुरा में श्री रंगनाथ जी एवं द्वारिकाधीशजी के मंदिर बनवाए तथा उनकी सेवा-अर्चना की व्यवस्था की। यह कथा मथुरा के पण्डों में प्रचलित है। इसको सिद्ध करने के लिए कोई प्रामाणिक अभिलेख प्राप्त न हो सका। इस कथा से यह ज्ञात होता है कि इन संन्यासियों की आर्थिक एवं राजनैतिक शक्ति क्या थी। अब भी इनके पास प्रचुर सम्पति एवं वैभव है।

आदि-शंकर ने भारत की संस्कृति को एक सूत्र में पिरोने के लिए चारों दिशा में दिव्य-चतुर्धाम के निकट चार आम्नाय (मठ) स्थापित किए। उत्तर में श्री बद्रीनाथ-धाम के समीप ज्योतिष्पीठ अथवा ज्योतिर्मठ (जोशीमठ); दक्षिण में श्री रामेश्वरम् के समीप कर्नाटक प्रदेश में शृंङ्गेरी पीठ, पूर्व में श्री जगनाथपुरी के निकट श्री गोवर्द्धन-पीठ एवं पश्चिम में द्वारिकापुरी के पास श्री शारदापीठ आज तक अद्वैत-संदेश का प्रचार-प्रसार कर रहे हैं। इन्हीं पीठों के सर्वोच्च संन्यासी को जगद्गुरु शंकराचार्य का विरुद् मिलता है। कई अन्य स्थानों के महन्त भी यह उपाधि धारण करते हैं किन्तु उनकी मान्यता सार्वभौम नहीं है।

दस वर्गों में विभाजित होने के कारण इन संन्यासियों की श्रेणी का नाम दशनामी पड़ा। ये दस नाम हैं—गिरि, पुरी, भारती, तीर्थ, वन, अरण्य, पर्वत, आश्रम, सागर एवं सरस्वती। उपरोक्त मठों के लिए विभिन्न वर्ग निर्दिष्ट किए गए हैं। 'वन' और अरण्य' नाम धारी संन्यासी श्री गोवर्द्धन-पीठ से, 'तीर्थ' और 'आश्रम' श्री शारदा-पीठ से, ज्योतिष्पीठ से 'गिरि', 'पर्वत' एवं 'सागर' तथा शृंगेरी पीठ से 'पुरी', 'भारती' एवं 'सरस्वती' सम्बद्ध किए गए हैं। चैतन्य नामधारी ब्रह्मचारी शृंगेरी पीठ के साथ, प्रकाश नाम के ब्रह्मचारी गोवर्द्धन पीठ के साथ तथा स्वरूप नामक ब्रह्मचारी श्री शारदा-पीठ से सम्बद्ध किए गए हैं।

रुद्राक्ष-माला एवं त्रिपुण्ड-तिलक इनकी विशेष पहचान हैं।

यद्यपि ये संन्यासी अद्वैत-सिद्धांत के अनुयायी हैं किन्तु लौकिक रूप से शिवोपासक अथवा शैव हैं। विभिन्न अखाड़ों के इष्टदेव विभिन्न देवता हैं। सामान्यतः ये पंचोपासना – शिव, विष्णु, शक्ति, सूर्य एवं गणेश, में श्रद्धा रखते हैं। सामान्यतः ये शैव संन्यासी 'नागा' साधु कहलाते हैं। यह शब्द 'नग्न' से बना है। ये साधु संसार त्याग करते समय अपने वस्त्र भी त्याग कर देते हैं और दिगम्बर अवस्था में रहते हैं। किन्तु यह आवश्यक नहीं कि अखाड़े में सभी व्यक्ति दिगम्बर-रूप में ही रहें। भगवा-वस्त्र धारण कर सकते हैं। कुंभ-पर्व के समय इच्छुक साधकों को 'नागा' बनाया जाता है। मठ के अधिकारियों द्वारा परीक्षित व्यक्ति को सर्व प्रथम नवीन श्वेत वस्त्र धारण कराया जाता है। तीन दिनों तक वह गायत्री मंत्र का जाप करता है फिर उसका 'मुण्डन-संस्कार' कर 'श्रद्धा-उतसव' के दिन आचार्य महामण्लेश्वर उन्हें नागा-संन्यास की दीक्षा देते हैं। दीक्षित होने के बाद वह 'स्याही' (सैन्य-समूह) में सम्मिलित-होकर कुम्भ-स्नान करने का अधिकारी हो जाता है।

नागा संन्यासियों के सात अखाड़े हैं—श्री महानिर्वाणी, श्री अटल, श्री निरञ्जनी, श्री आनन्द, श्री जूना अथवा भैरव, श्रीआवाहन एवं श्री पंच-अग्नि। एक अन्य छोटा अखाड़ा भी शैव-मतावलम्बी है—नर्मदा कुण्ड का ब्रह्मचारी अखाड़ा, किन्तु ये पूर्णतः संन्यस्त नहीं है। इसके सदस्य वस्त्र एवं यज्ञोपवीत का त्याग नहीं करते। प्रयाग-कुंभ-पर्व में ये संगठित रूप से भाग नहीं लेते।

ये अखाड़े 52 मढ़ियों एवं आठ दावों में विभक्त हैं। इन मढ़ियों या मठों की स्थापना आदि-शंकर ने की थी। ये हैं—श्रंगेरी, शारदा, गोवर्द्धन, ज्योतिर्मठ, परमात्मा, कुदाली, शंखेश्वर, काश्यप, कुम्भू, पुष्पगिरि, विरूपाक्ष, हव्यका, शिवगंगी, कोपला, श्रीशैल रामेश्वर, रामचन्द्रपुरा, अवन्ती, हली, भण्डागिरि, धनगि, कैवल्यपुर, मूलबंगाल, खिद्रपुरा, नृसिंह देव, मौलवन, पैठन, माण्डीगिरि काशी, तीर्थ राजपुरा, तीर्थली, हरिहरपुरा, गंगोत्री, बोधगया, तारकेश्वर धूमेश्वर, गोलेश्वर, कुडपाल, कैरूवा, गोहान्द, अनौवार, भीमेश्वर, ओंकारेश्वर,

मान्धाता, गंगेश्वरी, सिद्धनाथ, चिदम्बरम् सिद्धेश्वर, विमलेश्वर, अमरनाथ एवं चिनौर।

अपने दिग्विजय के समय आदि-शंकराचार्य ने इन स्थानों पर अन्य सम्प्रदाय के साधुओं एवं अनुयायियों को शास्त्रार्थ में पराजित कर उन्हें अपना शिष्यत्त्व प्रदान किया और अद्वैत मत के प्रचारार्थ वहाँ एक मठ की स्थापना कर दी। ये मठ आठ दावों में पुनर्गठित किए गए—ऋद्धिनाथ, रामदत्ती, चार-मढ़ियों का दावा, दस मढ़ियों का दावा, वैकुण्ठी दावा, सहजावत, दरियाव एवं भारती दावा।

इन संन्यासियों में दो प्रमुख श्रेणियाँ हैं—दण्डी एवं गोसाईं। तीर्थ आश्रम, सरस्वती एवं भारती नामधारी संन्यासी आजीवन दण्ड धारण करने का अधिकारी होता है। उसकी मुख्य पहचान है बाँस की एक लम्बी छड़ी जिसके सिरे पर यज्ञोपवीत बँधा रहता है और जो गेरुए कपड़े से लिपटा रहता है। शेष 'गोसाईं' कहलाते हैं। स्थिति के आधार पर इनके चार वर्ग हैं—हंस, परमहंसा, बोधक (नागा) एवं स्थानधारी। प्रारंभ के सात दिनों में ये भी दण्ड धारण करते हैं किन्तु बाद में उसका परित्याग कर शस्त्र धारण कर लेते हैं।

इन अखाड़ों की व्यवस्था पंचायत द्वारा की जाती है इसलिए कई अखाड़े अपने आगे 'पंचायती' नाम भी लिखते हैं।

श्री पंचायती महानिर्वाणी अखाड़ा—

इस अखाड़े का मुख्य केंद्र दारागंज, प्रयाग में है। इसके पंचायती स्वरूप की स्थापना सं० 805 विक्रमी में हुई थी। लगभग साढ़े बारह सौ वर्षों से इसकी व्यवस्था लोकतांत्रिक तौर-तरीके से की जा रही है। तीन वर्षों की अवधि के लिए अष्ट-प्रधान एवं अष्ट-उपप्रधान का चयन होता है जो अखाड़े का कारोबार चलाते हैं। इनकी इस व्यवस्था की प्रशंसा प्रयाग-भ्रमण के समय स्वयम् महात्मा गांधी जी ने की थी, ऐसी धारणा है। इसकी प्रमुख शाखायें ओंकारेश्वर, हरिद्वार, कनखल, कुरुक्षेत्र, नासिक, उदयपुर, ज्वालामुखी एवं काशी में हैं। छोटी-छोटी शाखाएं भारत भर में फैली हुई हैं। सम्प्रति इसके आचार्य श्री विश्वदेवानन्द जी महाराज एवं महन्त श्री राम नारायण

गिरि हैं। सिद्धों में सर्वश्रेष्ठ भगवद्रूप श्री कपिल मुनि इनके आदर्श एवं इष्ट हैं।

श्री पंच दशनामी जूना अखाड़ा—

यह सबसे बड़ी संख्या वाला विशालकाय अखाड़ा है। इसका मुख्य केंद्र बड़ा हनुमान घाट, वाराणसी में हैं। साधक शिवरूप श्री दत्तात्रेय जी महाराज इनके इष्ट एवं आदर्श हैं। इन्हें भैरव अखाड़ा भी कहा जाता है। आजकल श्री लोकेशानन्द गिरिजी महाराज इनके आचार्य एवं श्री बालकृष्ण यती महाराज महामण्डलेश्वर हैं।

श्री पंच दशनामी आवाहन अखाड़ा—

दशाश्वमेघ घाट, वाराणसी पर इनका मुख्य केन्द्र है। स्वामी विद्यानन्द सरस्वती इनके आचार्य एवं महन्त स्वामी सत्यानन्दगिरि हैं। इनके इष्टदेव सिद्ध गणपति हैं।

श्री पंच अग्नि अखाड़ा—

इस अखाड़े का मुख्य केन्द्र काशी (वाराणसी) स्थित राजघाट पर है। इसमें ब्रह्मचारी रहते हैं। अपने इष्ट के रूप में गायत्री माता की उपासना इसके संन्यासी करते हैं। ब्रह्मर्षि श्री प्रकाशानन्द जी महाराज इसके आचार्य एवं श्री महन्त गोविन्दाचार्य इसके प्रधान हैं।

तपोनिधि श्री महा निरंजनी अखाड़ा पंचायती—

इसका मुख्यालय मायापुरी (हरिद्वार) में है। देवसेनाधिपति स्वामी कार्त्तिकेय इनके इष्टदेव हैं। इनके आचार्य स्वामी कृष्णानन्द गिरि महाराज हैं और श्री महन्त उन्नतगिरि इनके प्रधान हैं।

श्री पंचायती अखाड़ा अटल—

इनका मुख्यालय वाराणसी में है। श्री गजानन भगवान इनके इष्टदेव हैं। स्वामी श्री मंगलानन्द जी महाराज इनके आचार्य एवं प्रधान श्रीमहन्त चेतानन्द गिरि जी हैं।

तपोनिधि श्री पंचायती अखाड़ा आनन्द —

इस अखाड़े का मुख्य-केंद्र कपिलधारा तीर्थ, काशी में स्थित है। श्री भागवतानन्द जी महाराज इस अखाड़े के आचार्य हैं और

प्रधान हैं श्री महन्त श्री रामनारायण गिरिजी। इस अखाड़े के संन्यासी भगवान श्री सूर्यनारायण देव को अपना इष्ट देवता मान कर उनकी अर्चना करते हैं।

वैरागी अखाड़े—

भक्तिकाल में शैव-संन्यासियों की तरह ही रामभक्त वैष्णव साधुओं के सैन्य-संगठन बने। इनका उद्देश्य जहाँ एक ओर विधर्मियों से अपने संगठन एवं धार्मिक स्थानों को सुरक्षित रखना था, वहीं दूसरी ओर था अद्वैत-मत का खण्डन कर अपने मार्ग—भक्ति, को प्रतिष्ठित करना। इसके कारण पिछली शताब्दियों में दशनामी संन्यासियों से इनकी लाग-डाँट चलती रहती थी जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है।

इस वैरागी साधु-समुदाय के मूल प्रवर्त्तक श्री रामानुजाचार्य हैं। उन्होंने शंकर-अद्वैत मत का खण्डन करते हुए अपने विशिष्टाद्वैत (विशेष-अद्वैत) मत का प्रतिपादन किया। इसके अनुसार सगुण ईश्वर की पूजा होनी चाहिए। यह मत श्री विष्णु एवं उनके 24 अवतारों की उपासना का प्रतिपादन करता है।

श्री रामानुज स्वामी के पट्टशिष्य श्री अनुभवानन्दाचार्य एवं उनके शिष्य श्री बालानंद स्वामी ने वैरागी अखाड़ों की नींव डालीं। अपने गुरु द्वारा स्थापित 700 मठों के साधुओं को उन्होंने 145 खालसाओं, 18 अखाड़ों एवं 3 अनियों के रूप में संगठित किया। इनके आचार्य धौत (श्वेत) अथवा पीत-वस्त्र धारण करते हैं। संन्यासियों के दण्डीस्वामी के मुकाबिले यहाँ त्रिदण्डी-स्वामी होते हैं जो बाँस की छड़ी उसके जड़ के साथ धारण करते हैं। जड़ के तीन सिरे इस छड़ी के शीर्ष-भाग में रहते हैं। इनकी सदस्यता किसी भी वर्ण का व्यक्ति ले सकता है और त्रिदण्डी-अवस्था भी प्राप्त कर सकता है। वैरागी साधुओं में शिखा-सूत्र का त्याग आवश्यक नहीं है ये ऊर्ध्व-तिलक, एक सौ ग्यारह की छाप अथवा त्रिशूल की आकृति का तिलक लगाते हैं एवं तुलसी-माला कण्ठ में धारण करते हैं। इनमें नाम के आगे दास अथवा आचार्य लिखने की परम्परा है।

अन्य भक्ति-मार्गी आचार्यों ने भी मठों एवं साधु-सम्प्रदायों की

स्थापना की। श्रीमध्वाचार्य, श्री निम्बार्क स्वामी, श्री वल्लभाचार्य एवं महाप्रभु चैतन्य ने कई मठ स्थापित किए। इनके अतिरिक्त संत गरीबदास, दादू आदि के भी मत चले। इनके विभिन्न सम्प्रदाय के वैरागियों का अलग अस्तित्व अखाड़ा रूप में नहीं रहा। जिन्होंने संगठन बनाया भी तो उपर्यक्त अनियों के तत्त्वावधान में ही।

वे तीन अनियाँ (अनी का अर्थ होता है 'नोंक' जैसे भाले की अनी अर्थात् भाले की नोंक) निम्नलिखित हैं—

श्री निर्मोही अनी—

इस अनी में रामानन्दी निर्मोही, रामानन्दी झाड़िया निर्मोही, रामानन्द मालाधारी निर्मोही, रामानन्दी संतोषी निर्मोही, रामानन्दी महानिर्वाणी निर्मोही, राधावल्लभी निर्मोही, हरिव्यासी संतोषी, हरिव्यासी महानिर्वाणी एवं दादू-पन्थी अखाड़े हैं।

श्री दिगम्बर अनी—

इसमें राम जी दिगम्बर अखाड़ा एवं श्यामजी दिगम्बर अखाड़ा शामिल हैं।

श्री निर्वाणी अनी—

इसमें रामानन्दीय निर्वाणी अखाड़ा, रामानंदीय खाकी अखाड़ा, रामानन्दीय निरालम्बी अखाड़ा; रामानन्दीय टाटम्बरी अखाड़ा, हरिव्यासी निर्वाणी अखाड़ा, हरिव्यासी खाकी अखाड़ा एवं बलभद्री अखाड़ा सन्निहित हैं।

इन्हीं तीन अनियों में विभिन्न मण्डलों के मण्डलेश्वरों एवं महन्तों के 145 खालसे भी आते हैं।

निर्मोही अनी का निशान (झंडा) रुपहला है, निर्वाणी के निशान का रंग पीला है और दिगम्बर का निशान पँचरंगा है।

उदासीन-सम्प्रदाय

सिक्ख-संप्रदाय के आदि गुरु श्री नानकदेव जी महाराज के सुपुत्र श्री चन्द्रदेव जी महाराज 'उदासीन' अथवा 'उदासी' मत के प्रवर्त्तक हैं। किंवदन्ती है कि गुरुनानक जी ने जब श्री चन्द्र जी को अपना

उत्तराधिकारी नहीं बनाया तो वे अत्यंत उदास हो गए। उन्होंने कृष्ण वस्त्र धारण कर लिया एवं भस्म विलेपन कर मायासक्त संसार से विरक्त हो गए। उनके अनुयायी उदासीन कहलाए। यद्यपि ये गुरु ग्रंथ साहब एवं अन्य सिक्ख गुरुओं की बानियों पर श्रद्धा रखते हैं किन्तु ये सिक्ख-पंथ के अंग नहीं हैं। ये मुख्यतः 'प्रणव' अथवा 'ॐ' की उपासना करते हैं और उसे ही अनादि तत्त्व मानते हैं। श्री चन्द्र देव एवं श्री विष्णु की भी पूजा होती है। पहनावे के संबंध में कोई विशेष नियम नहीं है किन्तु सामान्यतः काले या गेरुआ परिधान धारण करते हैं।

इस सम्प्रदाय के दो अखाड़े हैं—

श्री पंचायती उदासीन बड़ा अखाड़ा—

इलाहाबाद के कीडगंज मोहल्ले में इसका मुख्य केन्द्र है। इसके श्री महन्त ब्रह्मर्षि जी महाराज हैं और स्थानीय प्रधान महन्त श्री फुम्मन दास जी महाराज हैं।

श्री उदासीन पंचायती नया अखाड़ा—

इसका मुख्यालय कनखल, हरिद्वार में है। इनके मुखिया महन्त श्री रंगदास जी महाराज हैं। प्रयाग कृष्णनगर, कीडगंज इलाहाबाद में इसकी मुख्य शाखा है जिसके प्रधान महन्त श्री सूरदास जी हैं।

श्री निर्मल पंचायती अखाड़ा—

पिछली शताब्दी में एक नए सम्प्रदाय एवं एक नए अखाड़े की स्थापना हुई। अद्वैत सिद्धान्त से प्रभावित होकर गुरु-बानी का इस दृष्टि से अनुशीलन करने हेतु 'निर्मल सम्प्रदाय' का गठन किया गया। इसके सदस्य सिक्ख-पंथ के अनुयायी हैं और गुरु-ग्रंथ-साहब एवं दसों गुरुओं की बानियों को अपने दर्शन का आधार मानते हैं। ये तिलक-छाप आदि धारण न कर अन्य सिक्खों की तरह पञ्चकाकार धारण करते हैं।

इस अखाड़े की स्थापना कुरुक्षेत्र में संत बाबा महताब सिंह महाराज ने की थी और वे ही इसके प्रथम महन्त भी बने। इसका मुख्यालय कनखल, हरिद्वार में है। प्रयाग में इनकी मुख्य शाखा

मुट्ठीगंज में है। सम्प्रति इनके प्रधान महन्त श्री बलबीर सिंह जी महाराज है।

इन अखाड़ों के दो प्रकार के जुलूस कुंभ के समय निकलते हैं— पेशवाई एवं शाही। अपने-अपने मुख्यालयों अथवा इलाहाबाद नगर स्थित शाखाओं से ये जुलूस के रूप में पूरी सज-धज के साथ मेला-क्षेत्र में अपने शिविरों को जाते हैं। यह जुलूस 'पेशवाई' अर्थात् आगमनी कहलाता है। मकरसंक्रांति, मौनी अमावस्या एवं वसंत-पंचमी को पुनः ये अपनी सामरिक-धजा में संगम स्नान करने जाते हैं। इस जुलूस को 'शाही' या शाही-स्नान-जुलूस कहते हैं। 'पेशवाई' जुलूस ये अपनी सुविधानुसार निकालते हैं किन्तु 'शाही' जुलूसों का क्रम एवं समय तथा मार्ग पूर्व-निश्चित रहता है। ये जुलूस घुड़सवार एवं पैदल पुलिस तथा मैजिस्ट्रेटों द्वारा संगम ले जाए जाते हैं जहाँ अखाड़ों के लिए संगम का एक भाग सुरक्षित रखा जाता है। इन जुलूसों को देखने के लिए असंख्य देसी-विदेशी नर-नारी खड़े रहते हैं। विदेशी पर्यटकों के लिए यह एक अद्भुत दृश्य होता है। जुलूस के आगे-आगे भाला लिए साधु चलते हैं। तदनंतर निशान, तीर-धनुष, तलवार, कुठार आदि लिए अन्य साधु चलते हैं। महन्त एवं मण्डलेश्वर स्वर्ण-खचित पाल-कियों में चलते हैं। 'शाही' में सुरक्षा की दृष्टि से अब हाथी नहीं रखे जाते हैं।

अखाड़े कुंभ की शोभा हैं और कुंभ अखाड़ों के लिए अमृत-पर्व है। बिना अखाड़ों के कुंभ की कल्पना नहीं की जा सकती है। प्राचीन काल में ये अखाड़े जनसाधारण को स्व-धर्म में दृढ़ रहने के लिए आश्वस्त करते थे। आज भी अखाड़े भारतीय संस्कृति की निरंतरता एवं अक्षु-ण्णता के प्रतीक हैं।

अखाड़ों के स्नान की महत्ता के बारे में जन-विश्वास है कि पापियों का पाप धोते-धोते गंगा मैया भी कलुषित हो उठती हैं। कुम्भ-पर्व के समय जब ये तपोपूत साधु-संन्यासी उसमें स्नान करते हैं तो गंगाजी उनका संचित पुण्य उनसे लेकर पुनः उज्ज्वला एवं पुण्यतोया बन जाती हैं। इसीलिए उन्हें स्नान का विशेषाधिकार प्राप्त है।

तीर्थ-पुरोहित समुदाय अथवा प्रयागवाल पण्डे—

काशी, गया एवं अन्य तीर्थों की भाँति प्रयाग में भी ब्राह्मणों का एक समुदाय है जो बाहर से आए तीर्थ-यात्रियों को ठहराने एवं स्नान-ध्यान, पिण्डदान आदि धार्मिक कृत्यों को सम्पन्न कराने में सहायता करता है। यह समुदाय सामान्य भाषा में पण्डा-समुदाय' कहलाता है। ये अपने को 'तीर्थ-पुरोहित' कहलाना अधिक पसन्द करते हैं। जैसे गयावासी पण्डे 'गयावाल' कहलाते हैं वैसे ही प्रयागवासी पण्डे प्रयाग-वाल' कहलाते हैं। प्रत्येक दिन 2-3 हजार तीर्थयात्री प्रयाग आते हैं। उनकी तीर्थ-चर्या की व्यवस्था ये करते हैं। कुंभ-पर्व की अवधि में इनके यजमानों की संख्या बहुत अधिक बढ़ जाती है। कल्पवासियों के आवास एवं कल्पवास की व्यवस्था भी मुख्यतः यही समुदाय करता है।

इन पण्डों ने पूरे भारतवर्ष एवं विदेशों के उन खंडों को जहाँ-जहाँ भारतीय मूल के निवासी बसे हैं, आपस में बाँट रखा है। नदी तट पर इनके तख्तों के ऊपर इनकी पहचान, इनका झण्डा लगा रहता है। यात्री झण्डे को पहचान कर इनके तख्त पर जाता है। ये उसका पता पूछ कर अपनी वहियों में उसके पूर्वजों, यदि वे प्रयाग आए हों तो, का हस्ताक्षर दिखाकर उसे आश्वस्त करते हैं कि वह सही ठिकाने पर पहुँचा है। तीर्थ-सेवा के पश्चात् यात्री स्वेच्छा से जो दान दे, वही इनका प्राप्य है। इनमें कुछ पण्डे लोभवश तीर्थ-यात्रियों को अधिक दक्षिणा पाने की दृष्टि से तंग करने लग गए थे। कुछ नए पण्डे यज-मानों को बहका कर अपने पास लाने के लिए दलालों का उपयोग करने लगे थे। ये दलाल रेलगाड़ियों में, स्टेशनों पर यात्रियों से सम्पर्क स्थापित कर इन्हें गुमराह कर अपने पण्डों के पास ले जाते रहे। तांगों रिक्शों के साथ-साथ ये दौड़ते रहते थे। इसे 'जुन्नी करना' कहा जाता था। इन कुप्रथाओं की वजह से यह समुदाय कुख्याति एवं आलोचना का शिकार हुआ। पढ़े-लिखे प्रयागवालों ने इस प्रकार की कुप्रथाओं की समाप्ति हेतु 'प्रयागवाल सभा' की स्थापना की है। यह एक पंजीकृत संस्था है जो सभी प्रयागवाल तीर्थ-पुरोहितों के कार्य-कलाप के निर्धारण हेतु नियम आदि बनाती है तथा उनके लिए सुख-सुविधा

आदि प्राप्त करने के लिए उनका प्रतिनिधित्व करती है। अभी भी यदा-कदा जुन्नी, दलाली आदि दृष्टिगत होती हैं। यात्रियों को लेकर पण्डों में आपसी तकरार भी दिखाई दे जाता है। इससे इस समुदाय की गरिमा को ठेस पहुँचती है। यदि इसका निराकरण यह सभा कर सकी तो प्रयागवाल अपने पूर्व गौरव को प्राप्त कर सकेंगे।

तीर्थ-पुरोहितों का प्राचीन इतिहास कालक्रम के अनुसार उपलब्ध नहीं है। दंत-कथाओं, इनके पास उपलब्ध फरमान, सनद एवं इनकी बहियों पर उपलब्ध हस्ताक्षर के आधार पर इनके अतीत का अंदाज़ लगाया जा सकता है। इतिहास के गवेषक इस क्षेत्र में महत्कार्य कर सकते हैं।

यों तो भगवान रामचन्द्र जी के कुल-तीर्थ-पुरोहित भी प्रयागवालों में मिल जाएँगे, जिनका दावा है कि उन्होंने ही भगवान राम एवं जानकी माता से गंगा-पूजन कराया था परन्तु स्पष्ट प्रमाण इनके पास मध्यकाल एवं परवर्त्ती समय के ही उपलब्ध हैं। अफ़ग़ान एवं मुग़ल नरेशों के फरमान एवं सनद कुछ पण्डों के पास उपलब्ध हैं जिनमें माघ-मेला में इन्हें माफ़ी-ज़मीन देने का उल्लेख है। अकबर बादशाह ने इन्हीं में से मेला व्यवस्था हेतु चौधरी नियुक्त किए थे। इन फ़रमानों में इन्हें 'जनेऊवाले' अथवा 'जुन्नारदारान' कहा गया है। संभवतः 'जुन्नी' शब्द की व्युत्पत्ति का स्रोत यही शब्द है।

सन् 1666 ई० छत्रपति शिवाजी जब अपने पुत्र संभाजी के साथ आगरा के किले से चतुराई से निकल भागे तो वे प्रयाग आकर अपने पण्डे के पास रुके। यह कहा जाता है कि उनके तीर्थ-पुरोहित ने मुगल सूबेदार को इस बात के लिए हमवार कर लिया था कि वह उसके यहाँ तलाशी न ले। शहर कोतवाल को अपने गुप्तचरों से सूचना मिली कि दो बाहरी व्यक्ति एक पण्डे के पास रुके हैं। उसने सूबेदार को सूचना दी और सलाह दी कि मध्याह्न भोजन के समय संदिग्ध पंडे के यहाँ दबिश दी जाए। यदि बाहरी व्यक्ति पंडे के रिश्तेदार होंगे तो वे उनकी पंगत में बैठे होंगे। यदि मराठे होंगे तो अलग भोजन कर रहे होंगे क्योंकि उन दिनों ब्राह्मण एवं मराठे एक पंगत में भोजन नहीं करते थे। सूबेदार कोतवाल की बात को टाल न सका।

जब इसकी भनक शिवाजी के पण्डे को मिली तो वह बड़े धर्म-संकट में फँसा। एक ओर संस्कारगत रूढ़ियाँ थीं और दूसरी ओर राष्ट्र एवं धर्म का हित। अंत में राष्ट्र-धर्म की विजय हुई। जब तलाशी में मुगल अधिकारी आए तो उन्होंने एक ही पंगत में सभी को भोजन करते देखा। सूबेदार तो पहले से ही हमवार था, कोतवाल की युक्ति भी बेकार हुई। तदनंतर संभाजी को यहीं छोड़कर शिवाजी काशी, पुरी होते महाराष्ट्र चले गए। जब संभाजी गद्दी पर बैठे तो उन्होंने इस पंडा को अपना प्रधानमंत्री नियुक्त किया। यह पंडा इतिहास में 'कवि-कलस' के नाम से विख्यात हुआ।

इनकी यात्रियों के पंजीकरण की पद्धति आश्चर्यजनक नैपुण्यसम्पन्न है। पितृनाम एवं ग्राम, प्रदेश आदि बताते ही आनन-फ़ानन में कम्प्यूटर की तरह ये पूर्वजों के हस्ताक्षर आदि दिखा देते हैं। गुरु तेगबहादुर सिंह जी, गुरु गोविंदसिंह जी, महारानी लक्ष्मीबाई, विभिन्न भारतीय नरेशों, महात्मा गांधी, श्री मोतीलाल नेहरू आदि के हस्ताक्षर इनके पास सुरक्षित रखे हैं। पारिवारिक इतिहास जानने के जिज्ञासुओं के लिए पण्डों की ये बहियाँ बड़ा महत्व रखती हैं।

घाटिया-समुदाय

स्नान घाटों पर तख्त लगाकर जो ब्राह्मण बैठते हैं तथा यात्रियों के कपड़ों की रखवाली करके एवं उन्हें चंदन, कुंकुम, पुष्प आदि देकर उनकी सेवा करते हैं, वे घाटिया कहलाते हैं। इन घाटियों में दो उप-समुदाय हैं—गंगापुत्र घाटिया एवं जोशी-घाटिया। पहले ये प्रयागवालों के साथ संयुक्त रूप से कार्य करते थे। अब भी कुछ घाटिये पण्डों से सम्बद्ध हैं किन्तु अधिकांशतः स्वतंत्र रूप से कार्य करते हैं। इनमें से कुछ ने अपना निशान भी लगाना प्रारंभ कर दिया है। गर्मी, जाड़ा, बरसात सभी मौसमों में ये संगम पर डटे रहते हैं। इनका कार्य बड़ा कष्टसाध्य है। यात्रियों की सेवा कर जो दान-दक्षिणा मिल जाती है यही इनकी जीविका का साधन है। लगभग सवा सौ घाटिया अभी कार्यरत हैं।

कुंभ-पर्व के दिनों आसपास के जनपदों से टेढ़े-मेढ़े डण्डे लिए कुछ चटाईदार घाटिये भी संगम क्षेत्र में आ बैठते हैं। ये यदा-कदा

टपकेबाजी ओर उठाई-गीरी भी कर लेते हैं। इनसे सदैव सतर्क रहना चाहिए।

चौंढ़िहार—

निषादों का एक छोटा समुदाय चौंढ़िहार कहलाता है। किंवदंती है कि पहले ये अक्षयवट से कूद कर या संगम में शस्त्र द्वारा आत्म-हत्या करने वालों की सहायता किया करते थे और इसके बदले में दक्षिणा पाते थे। 'काशी-करवट' की तरह त्रिवेणी में प्राणोत्सर्ग करने की प्रथा भी प्राचीन एवं मध्यकालीन भारत में बहुत प्रचलित थी। अकबर ने इस प्रथा को समाप्त किया और इन लोगों के तीन दलनायकों को किले में बंदी बना कर डाल दिया। कुछ समय बाद जल-विहार के समय किसी रानी का बहुमूल्य हार यमुना के गहरे जल में गिर गया। जब शाही गोताख़ोर उसे न निकाल पाए तो जेल में बंद तीनों चौंढ़िहार-नायकों ने यह सूचना भिजवाई कि यदि उन्हें मुक्त कर दिया जाए तो वे हार ढूँढ़ निकाल सकते हैं। जो उन्होंने कहा था, कर दिखाया। फलस्वरूप उन्हें न ही सिर्फ बंधन-मुक्ति मिली वरन् वे शाही प्राण-रक्षक के रूप में नियुक्त भी कर दिए गए। लोगों को आत्म-हत्या से रोकना एवं डूबतों को बचाना इनका कर्त्तव्य निश्चित किया गया। इन तीनों में दो के नाम, गणपत एवं घीसे ज्ञात हैं। आज भी डूबतों को बचाने का ये काम करते हैं और इस कार्य में अत्यन्त दक्ष हैं।

यात्री श्रद्धापूर्वक गंगाजी में सिक्के, सोना-चाँदी के आभूषण, आदि चढ़ाते हैं। ये गहरे जल में गोता लगाकर इन्हें निकाल लाते हैं। उथले जल में अपने पादांगुलियों से यह बालुका-तल को रगड़ते रहते हैं और सिक्के या धातु के किसी पदार्थ का स्पर्श होते ही उसे पैर की उँगलियों से ही निकाल लेते हैं। कुंभ-पर्व के बाद जब पानी घट जाता है तो संगम-क्षेत्र के बालू को काफी गहराई तक खोद कर बालू छानते हैं। जो सिक्के एवं आभूषण मिलते हैं अथवा डूबतों को बचाने से जो पुरस्कार-राशि बनती है वही इनकी जीविका-वृत्ति है। आजकल लगभग एक सौ चौंढ़िहार इस कार्य में लगे हैं।

कुंभ-मेले के दौरान अन्य मठों, मतों एवं सम्प्रदायों के साधु संत

एवं अनुयायी आते हैं, हरेक की वेष-भूषा, तौर-तरीके अलग-अलग होते हैं। पिछले दो कुंभों से 'हरे कृष्ण' (इस्कॉन) सम्प्रदाय के विदेशी भक्त भक्तिनों की मंडली भी आती है। इनका मधुर-कीर्त्तन एवं रंग-रूप यात्रियों के लिए आकर्षण का बिन्दु बनता है।

इन विभिन्नताओं को समेट कर एक सूत्र में गुम्फित करती है भक्ति की धारा। पूरा त्रिवेणी-क्षेत्र इस आध्यात्मिक धारा में इस पर्व के दौरान नहाता रहता है।

□□

7

कुंभ-प्रबंध

कुंभ मेले में लगभग 30-35 लाख व्यक्तियों के एक मास की अवधि के निवास की व्यवस्था और लगभग 2½-3 करोड़ व्यक्तियों की पूरी अवधि में अवागमन एवं अस्थायी निवास की व्यवस्था हेतु एक विस्तृत कुंभ-नगर की स्थापना की जाती है। मौनी अमावस्या के दिन इलाहाबाद (कुंभ-नगर सहित) संसार का सर्वाधिक बहुसंख्यक महानगर बन जाता है। इसका प्रबंध-कार्य भी अपने आप में एक अनूठा काम है। यों कहें कि उ०प्र० सरकार को कलकत्ता के बराबर एक महानगर अस्थाई रूप से बसाना पड़ता है और मेला समाप्ति के बाद उखाड़ना पड़ता है तो कोई अतिशयोक्ति न होगी।

स्वतंत्रता-पूर्व काल में कुंभ-प्रबंध पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया जाता था। ब्रिटिश साम्राज्यवादी शासकों को मात्र यह चिन्ता रहती थी कि प्रबंध पर जो राजकीय व्यय हो वह किसी तरह राजस्व-रूप में वसूल कर वापस ले लिया जाए। इसलिए प्रति-यात्री व्यय का अनुपात बहुत ही कम होता था और यात्री-कर का अनुपात अधिक। उन्नीसवीं शती के पूर्वार्द्ध में प्रति यात्री सवा रुपये का यात्रीकर लगाया गया था ताकि पुलिस प्रबंध का खर्च वसूल हो सके। कर की यह राशि उन दिनों के लिए अत्यधिक थी। सवा रुपये में उन दिनों एक व्यक्ति एक मास तक भोजन कर सकता था। बाद में जननेताओं एवं विद्वानों के आग्रह पर लॉर्ड ऑकलैंड ने यह कर समाप्त कर दिया था। इस कर के कारण उन दिनों कुंभ-मेला में अधिक भीड़ नहीं हुआ करती थी। कर समाप्ति के बाद भीड़ बढ़ने लगी। 1906 के पूर्ण कुंभ में लगभग 30 लाख व्यक्ति आए थे जिन पर रु० 92,024 खर्च हुए थे। कुल आय 26,621 रु० की हुई। इस वर्ष हैजा की महामारी के कारण सफाई एवं चिकित्सा पर अधिक खर्च करना पड़ गया था।
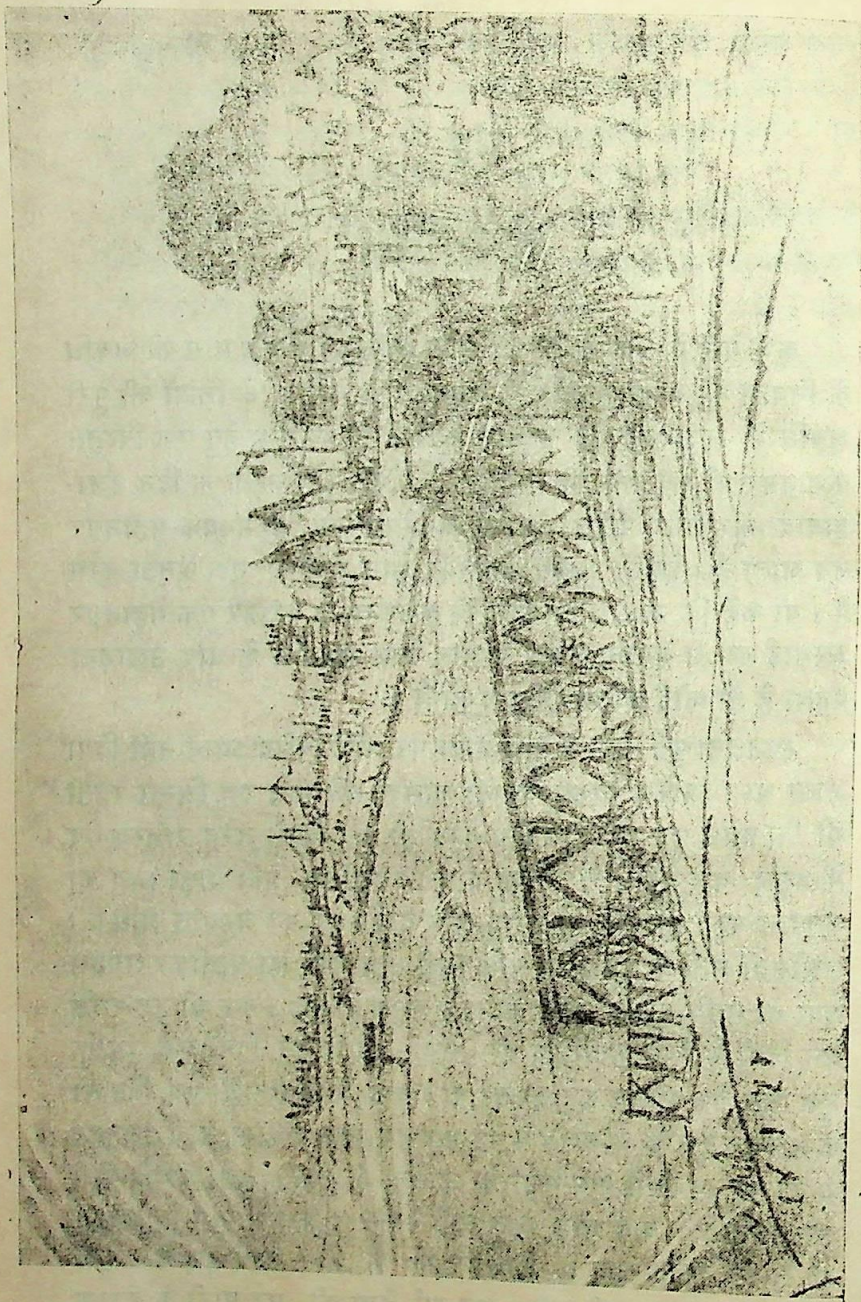
कुंभ मेले का एक मनोहारी एवं विहंगम दृश्य : रेखांकन— डॉ० जगदीश गुप्त

स्वाधीन भारत की नीति जन-कल्याण की बनी। अत: कुंभ-प्रबंध में आय-व्यय के अनुपात पर जोर न देकर यात्रियों की सुख-सुविधा पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा। 1954 की दुर्घटना के पश्चात् यात्रियों की सुरक्षा एवं यातायात-व्यवस्था कुंभ-प्रबंध के केंद्र बिन्दु बन गए।

1930 तक कुंभ-मेले का प्रसार मुख्यतः त्रिवेणी क्षेत्र में ही होता था। झूँसी क्षेत्र में कुछ अन्न क्षेत्र स्थापित किए जाते थे। अरैल क्षेत्र में मात्र कुछ शौचालय बना दिए जाते थे। 1954 तक मेला का फैलाव आइज़ट-रेल-पुल तक होता था। चूँकि उस वर्ष गंगाजी बेनी-बाँध के सन्निकट बह रही थीं अत: कल्पवास आदि की व्यवस्था गंगा-पार क्षेत्र में करनी पड़ी थी। अरैल इस वर्ष भी अविकसित रहा था। 1977 में मेला-क्षेत्र का विस्तार छतनाग स्थित शंख-माधव तक किया गया और अरैल को भी विकसित किया गया। इस वर्ष (1989) में कुंभ-नगर की व्यवस्था त्रिपुर—त्रिवेणी, प्रतिष्ठान एवं अलर्क, रूप में की गई है। तीनों उपनगरों में सभी सुविधाएँ प्रदान की गई हैं। उत्तरोत्तर कुंभ-नगर के क्षेत्रफल, उपलब्ध सेवाओं, इसके स्वरूप एवं जनसंख्या में परिवृद्धि होती जा रही है।

मेला-प्रबंध की तैयारी लगभग एक वर्ष पूर्व प्रारंभ कर दी जाती है। शासन का नगर-विकास विभाग इसका नियामक विभाग है और आयुक्त, इलाहाबाद मण्डल मुख्य व्यवस्थापक हैं। जनता के प्रतिनिधि-गण, विभिन्न विभागों के सचिव एवं विभागाध्यक्ष एवं अन्य गण्यमान्य नागरिकों से विचार-परामर्श कर अनुमानित यात्री-संख्या एवं गंगाजी की स्थिति को ध्यान में रखकर कुंभ-प्रबंध-परियोजना की रूपरेखा बनाई जाती है। इस महत्कार्य के वहन के लिए अनुभवी एवं कार्य-कुशल अधिकारियों का चयन कर उन्हें तैनात किया जाता है। मेला-प्रबंध का प्रभारी अधिकारी 'मेला-अधिकारी', जिलाधिकारी स्तर का अधिकारी होता है जो भूमि-आवंटन, राजस्व-संकलन, दूकानों एवं नौकाओं आदि का पंजीकरण तथा विभिन्न विभागों के कार्यों की समीक्षा आदि का कार्य करता है। एक विशाल जनपद के अनुरूप इन्हें अतिरिक्त जिलाधिकारी एवं उपमंडलाधिकारी (सबडिविज़नल मैजि-

स्ट्रेट्स) तथा अन्य राजस्व-विभाग के अधिकारी तथा कर्मचारी इन कार्यों हेतु मिलते हैं ।

मेला की सफलता मुख्यतः निर्भर करती है कुशल भीड़-नियंत्रण एवं यातायात-संचालन पर । इस हेतु एक वरिष्ठ-पुलिस अधीक्षक की नियुक्ति की जाती है। उसके अधीन कई अतिरिक्त पुलिस-अधीक्षक, उप-पुलिस अधीक्षक एवं लगभग दस हजार पुलिस कार्मिक नियुक्त किए जाते हैं । किसी भी पुलिस अधीक्षक के लिए विश्व में यह सबसे बड़ा 'कमाण्ड' (प्रभार) है। इसमें पुलिस की हर शाखा-प्रशाखा— नागरिक पुलिस, सशस्त्र पुलिस, यातायात-पुलिस, प्रादेशिक सशस्त्र पुलिस (पी० ए० सी०), घुड़सवार-पुलिस, पुलिस वायरलेस-संगठन, पुलिस-फ़ायरब्रिगेड, नदी-पुलिस, होमगार्ड एवं चौकीदार, के कर्मी होते हैं । ये पूरे प्रदेश के जनपदों, पी० ए० सी० वाहिनियों एवं अन्य ईकाइयों से एकत्र किए जाते हैं । भारत के अन्य राज्यों से भी पुलिस की छोटी-छोटी टुकड़ियाँ अपराधियों की पहचान तथा उन प्रदेशों के यात्रियों के लिए दुभाषिए का काम करने के लिए मँगाई जाती हैं ।

यातायात-प्रबंध-योजना बनाने के लिए एक समिति का गठन किया जाता है । सभी पूर्व-कुंभों के प्रभारी मेला-अधिकारी एवं वरिष्ठ पुलिस अधीक्षक रेलवे, रोडवेज़ तथा सेना के प्रतिनिधि अधिकारी इस समिति के अंग होते हैं। सभी पक्षों पर विचार करने के पश्चात् यातायात-योजना की रूपरेखा का निर्माण किया जाता है । कुंभ-नगर, प्रबंध एवं यातायात-योजना के निर्माण में कठिनाई यह है कि यह कार्य वर्षा-समाप्ति के पूर्व नहीं किया जा सकता है । अन्य कुंभ-स्थानों यथा हरिद्वार, उज्जैन एवं नासिक में नदियों एवं विभिन्न क्षेत्रों की भौगोलिक स्थिति स्थायी रहती है अतः दस वर्ष पूर्व भी वहाँ के कुंभ-प्रबंध की योजना की रूपरेखा तय की जा सकती है। प्रयाग में कुंभ नगर गंगा-यमुना के षट्कूल-क्षेत्र में बसता है अतः गंगा-यमुना की धाराओं की स्थिति पर भूमि की उपलब्धता एवं संगम की स्थिति निर्भर करती है । यमुना की धारा की स्थिति में अधिक परिवर्तन नहीं होता है किन्तु गंगाजी की धारा प्रति वर्ष अपनी स्थिति बदलती है । 1954 में गंगा जी बेनी-बांध के पास बह रही थीं, 1966 में बेनी बांध

और समुद्रकूप के मध्य दोनों ओर समान क्षेत्र छोड़कर बह रही थीं, 1977 में दो धाराओं में विभक्त होकर बह रही थीं, इस वर्ष पुन: मध्य में आ गई हैं। गंगा की धारा पर ही संगम की स्थिति एवं स्नान-कुण्ड की क्षमता निर्भर करती है। गंगा की गहराई अधिक नहीं है किन्तु उनकी गति अत्यंत क्षिप्र है और अपने साथ वह प्रचुर बालुका-राशि लिए चलती हैं। यदि उनकी धारा पूर्णत: पूर्वाभिमुखी हुई तो संगम पर स्नान-क्षेत्र बहुत सँकरा होगा। यदि वे पश्चिमाभिमुखी हुईं तो यमुना की गहराई को पाट कर प्रशस्त स्नान-क्षेत्र प्रदान कर देती हैं। गंगा-धारा द्वारा तटों की कटान भी एक निरंतर समस्या प्रस्तुत करती है। कुंभ मेले के दौरान भी यह कटान होती रहती है अत: घाटों का निर्माण, मरम्मत, मार्गों की सिधाई आदि में परिवर्त्तन बार-बार करना पड़ता है। यद्यपि सिंचाई विभाग द्वारा कई बार नदी प्रशिक्षण (रिवर-ट्रेनिंग अथवा नदी की धारा को पूर्व-निर्धारित स्थिति से प्रवाहमान रखने की प्रक्रिया) की चेष्टा की गई किन्तु इसमें कोई विशेष सफलता नहीं मिली। लोकोक्ति है कि गंगाजी भगीरथ के अतिरिक्त और किसी के पीछे कभी नहीं चलीं, आज क्या चलेंगी। फलस्वरूप सितम्बर के अंत तक कोई विस्तृत परिकल्पना नहीं की जा सकती है। सितम्बर के बाद भौगोलिक स्थिति को देखते हुए तेजी से योजना का निर्धारण होता है।

यातायात-व्यवस्था की आधार-शिला के सिद्धांत हैं—सामान्य दिनों एवं प्रमुख पर्वों की अलग-अलग व्यवस्था, गाड़ियों एवं पैदल यात्रियों की अलग-अलग व्यवस्था, मुख्य-पर्वों के दिन नगर-क्षेत्र में बड़ी गाड़ियों ट्रैक्टर ट्रालियों तथा बैलगाड़ियों के पार्किंग की व्यवस्था, झूँसी तथा अरैल में बड़ी एवं छोटी गाड़ियों की व्यवस्था; मेला-क्षेत्र में छोटी गाड़ियों की पार्किंग की व्यवस्था; मेला-क्षेत्र में पैदल यात्रियों की 'वन-वे ट्रैफिक' (एक-मार्ग से जाना एवं दूसरे से लौटने की ऐसी व्यवस्था कि एक को दूसरी धारा न काटे); पीपे के पुलों की भी ऐसी ही व्यवस्था; संगम, अक्षयवट अथवा बड़े हनुमान जी के मंदिर पर भीड़ अधिक होने पर यात्रियों की भीड़ को नियंत्रित एवं व्यवस्थित रूप से अन्यत्र ले जाने की व्यवस्था आदि प्रमुख हैं। इन

व्यवस्थाओं को लागू करने के लिए पूरे मेला क्षेत्र में बल्लियों की बैरिकेटिंग की जाती है और हर मोड़-मुहाने पर 'दिशा निर्देशक' (डाइरेक्शन) टॉवर तथा 'निगरानी-टॉवर' (वाच टॉवर) बनाए जाते हैं। यात्रियों की भीड़ को नियंत्रित करने के लिए चक्रव्यूह भी स्थापित किए जाते हैं। पूरे मेला-क्षेत्र में सूचनाओं के संकलनार्थ डाक-तार विभाग के टेलिफोन, फ़ील्ड-टेलिफोन एवं वायरलेस का जाल बिछाया जाता है। सभी जगहों से सूचनाएँ मुख्य-नियंत्रण-कक्ष में एकत्रित कर, उनका विश्लेषण कर संक्षेप में केंद्रीय नियंत्रण टॉवर को भेजा जाता है जहाँ वरिष्ट पुलिस अधीक्षक तथा मेला-अधिकारी मुख्य-पर्वों में रहते हैं। वरिष्ठ पुलिस-अधीक्षक स्थिति के अनुसार यातायात-नियंत्रण की विभिन्न योजनाओं को लागू करने का आदेश दिया करते हैं। इस मेला-प्रबंध की विशिष्टता है कि मात्र एक ही व्यक्ति संचालन-सूत्र अपने हाथ में रखता है। यातायात एवं भीड़-नियंत्रण कार्य की सफलता उसके विवेक एवं कार्य नैपुण्य पर पूर्णतः निर्भर करती है। मुख्य-नियंत्रण कक्ष में टेलिविज़न के पर्दों पर क्लोज-सर्किट टी० वी० कैमरों की मदद से विभिन्न महत्व-पूर्ण स्थानों पर भीड़ की स्थितियाँ भी दर्शित-होती रहती हैं।

यातायात-नियंत्रण के साथ-साथ कुंभ-प्रबंध के अन्य प्रमुख अंग हैं--- मेला क्षेत्र में सड़कों एवं पुलों का निर्माण, घाटों एवं नौका-संचालन हेतु जेटी तथा नदी-मार्गदर्शक-पंक्तियों का निर्माण, जो सार्वजनिक निर्माण विभाग करता है; सफाई की व्यवस्था तथा चिकित्सा की व्यवस्था, जो स्वास्थ्य-विभाग करता है; विद्युत-प्रकाश की व्यवस्था, जो उ० प्र० विद्युत संगठन द्वारा की जाती है; पेय-जल की आपूर्त्ति की व्यवस्था, जो जल-निगम द्वारा की जाती है, खाद्य-पदार्थ एवं घी, तेल तथा मिट्टी-तेल की व्यवस्था, जो खाद्य एवं नागरिक आपूर्त्ति विभाग करता है; जलावनी लकड़ी की व्यवस्था, यह वन-विभाग द्वारा की जाती है; दुग्ध-आपूर्त्ति की व्यवस्था, दुग्ध-निगम द्वारा की जाती है। प्रचार-प्रसार के लिए सूचना-निदेशालय, आकाशवाणी, दूरदर्शन तथा संचार-विभाग व्यवस्था करते हैं। भारतीय सेना द्वारा यमुना-पुल पर बेलीब्रिज का निर्माण किया जाता है तथा नदी में प्राणरक्षा

के कार्य में सहायता दी जाती है। अन्य कई कार्यों में भी उनसे सहायता ली जाती है।

कुंभ-प्रबंध में इलाहाबाद जनपद एवं समीपवर्त्ती जनपदों का कार्य भी सम्मिलित है। बहुत बड़ी संख्या में यात्री नगर-क्षेत्र में भी रहते हैं अतः वहाँ सड़कों की मरम्मत, विद्युत-व्यवस्था का विकास, शौचालयों की व्यवस्था आदि का प्रबंध करना पड़ता है। ऐसा ही कार्य मुख्य रेलवे-स्टेशनों तथा समीपवर्त्ती स्टेशनों पर भी करना पड़ता है।

कुंभ-प्रबंध की विशालता का अंदाज़ 1977 के एवं वर्त्तमान कुंभ के कतिपय आँकड़ों से किया जा सकता है। कुंभ नगर 1977 में 2,500 एकड़ों में विस्तृत था। 5,000 मजदूरों एवं सेना इंजिनियरिंग कोर के 400 जवानों एवं अधिकारियों ने छः महीनों में इस कुंभ-नगर के सड़कों, घाटों एवं पुलों का निर्माण किया था। 14 पीपों के पुल बने थे। 250 लाउडस्पीकर लगे थे। 3,000 बिजली के खंभे लगाए गए थे एवं 8000 स्थानों से बिजली के कनेक्शन दिए गए थे। 8,000 पुलिसबल नियुक्त था। 1400 स्पेशल ट्रेनें एवं 1,000 राजकीय बसें यात्रियों के लिए लगाई गई थीं। 2,500 नौकाएँ नदियों में चल रही थीं। 18 ट्यूबवेल एवं 100 हैंडपम्पों द्वारा प्रतिदिन 22,000 लिटर पेय-जल की आपूर्त्ति की गई थी। 100 डॉक्टर एवं 1,000 सहायक, 100 शैय्यावाले केंद्रीय चिकित्सालय एवं 10 सहायक चिकित्सालयों की व्यवस्था देखते थे। 1,000 स्वास्थ्य-कर्मी कीटनाशक दवाइयों का छिड़काव करते थे एवं 6,000 सफाई कर्मी मल-मूत्र की सफाई में लगे थे। इस व्यवस्था में उ० प्र० सरकार ने 6.5 करोड़ रुपये खर्च किए थे।

इस वर्ष कुंभ-नगर 3,600 एकड़ों में फैला हुआ है। लगभग 10,000 पुलिस एवं होम-गार्ड बल यातायात एवं भीड़-नियंत्रण हेतु नियुक्त किया गया है। 22 फायर-स्टेशन खोले गए हैं। 800 लोहे के पीपों (पोन्टून) से 10 पोन्टून-पुल गंगा पर एवं यमुना पर बेलीब्रिज का निर्माण क्रमशः सार्वजनिक निर्माण विभाग तथा सेना द्वारा किया गया है। 22 ट्यूबवेल एवं 187 किलोमीटर लम्बी पाइप-लाइन जल

वितरण हेतु स्थापित किए गए हैं। 11,500 खंभों द्वारा स्ट्रीट-लाइनिंग (सड़कों की रोशनी) की गई हैं और 328 कि० मी० लम्बी विद्युत लाइनें लगाई गई हैं। पूरे मेला क्षेत्र में बालू ही बालू है इस बालू पर सुविधा-पूर्वक आवागमन हेतु चेकर प्लेट्स (लोहे की चौड़ी पट्टियाँ) पूरे मेला क्षेत्र में बिछाई जाती हैं, इस वर्ष (1989 में) इतनी चेकर प्लेटें पूरे मेला क्षेत्र में बिछाई गई हैं कि उनसे 145 कि० मी० लम्बी सीधी सड़क का निर्माण किया जा सकता है। 100 शैय्याओं का मुख्य अस्प-ताल, 28 प्राथमिक चिकित्सा केंद्र एवं 15 मेडिकल चेक पोस्ट स्थापित किए गए हैं। 26 एम्बुलेंस गाड़ियों की व्यवस्था बीमारों के आवागमन के लिए की गई है। 80 स्वास्थ्य निरीक्षकों एवं 250 स्वच्छता पर्य-वेक्षकों की देखरेख में कीटनाशक दवाइयों का छिड़काव होगा तथा 6000 से अधिक सफ़ाई मजदूर सफाई करेंगे। 10,000 मीट्रिक टन गेहूँ, 6000 मी० टन चावल, 2,500 किलो लीटर मिट्टी का तेल, 5000 कि० लिटर पेट्रोल, डीज़ल, 2200 मी० टन चीनी, 8 रैक कोयला एवं 1888 मी० टन सीमेंट की आपूर्त्ति की व्यवस्था की गई है। 100 दूध की दूकानों तथा 25 जलौनी लकड़ी की दूकानों की स्थापना की गई है। 2,500 प्राइवेट बसों तथा 3,000 राजकीय परि-वहन की बसों की व्यवस्था की गई है। लगभग 77 करोड़ रुपयों का व्यय-भार उ० प्र० सरकार उठा रही है। सरकार की राजस्व-प्राप्ति व्यय के मुकाबिले नगण्य है।

कुंभ-प्रबंध में प्रशासन एवं पुलिस को काफी सहायता स्वयंसेवी संस्थाओं से मिलती है। इन संस्थाओं द्वारा कई दातव्य-औषधालय चलाए जाते हैं। स्वयंसेवक यातायात, जल में प्राण-रक्षा तथा भीड़-नियंत्रण में भी पुलिस की सहायता करते हैं।

कुंभ-प्रबंध में इलाहाबाद के ठेकेदारों का भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है। यह नगर मुख्यतः तम्बुओं एवं पर्ण कुटियों का होता है। बेनी-बाँध से नीचे नदी-तट पर स्थायी निर्माण संभव भी नहीं है। अतः हर चीज किराए पर ली जाती है। राजकीय विभाग, साधु-संगत, अखाड़े, प्रयागवाल, कल्पवासी एवं अन्य यात्री, सभी की आवश्यक-ताओं की पूर्ति यही ठेकेदार किया करते हैं। सूई से लेकर बड़े-बड़े

शामियाने व डेरे इनसे किराए पर लिए जा सकते हैं।

चूँकि अत्यल्प समय में वृहत् व्यवस्था करनी पड़ती है अतः सभी विभाग युद्ध-स्तर पर तैयारी करते हैं। हर रोज मेला-अधिकारी, आयुक्त एवं विभिन्न विभागाध्यक्ष कार्यों की प्रगति की समीक्षा करते रहते हैं। उ० प्र० मंत्रि मण्डल के मंत्री-गण एवं स्वयं मुख्य मंत्री भी कार्यों की प्रगति का आकलन समय-समय पर करते हैं और यदि कोई कठिनाई हो तो उसका निराकरण भी करते हैं।

पूरे भारतवर्ष की धर्म-प्राण प्रजा के रञ्जनार्थ उत्तर-प्रदेश शासन द्वारा कुंभ-पर्व की सुव्यवस्था सदैव प्रशंसित एवं अप्रतिम रही है।

□□

8

कुम्भ क्यों ?

कई स्वयं को बुद्धिजीवी (इन्टेलेक्चुअल) मानने वाले व्यक्ति प्रश्न करते हैं कि इस आधुनिक एवं वैज्ञानिक युग में कुंभ-पर्व के आयोजन की क्या प्रासङ्गिकता है ? क्या यह अंध-विश्वास एवं पुराण-पंथी रूढ़िवादिता को बढ़ाकर मात्र निहितस्वार्थ वाले तत्वों का स्वार्थ साधन मात्र नहीं है ? क्यों इस पर राजस्व की इतनी बड़ी राशि व्यय की जाए ?

आस्थावान व्यक्ति तो इन प्रश्नों का उत्तर ढूँढ़ने की सार्थकता को ही स्वीकार नहीं करेंगे । आस्था एवं अध्यात्म से हटकर भी सामाजिक एवं सांस्कृतिक धरातल पर भी निष्पक्ष एवं पूर्वाग्रह-रहित भाव से यदि हम विचार करें तो कुंभ-पर्व की आज के युग एवं परिवेश में प्रासङ्गिकता, सार्थकता एवं उपादेयता स्पष्ट हो जाएगी ।

यद्यपि मनुष्य प्रकृत-रूप में प्राणी-जगत का सदस्य है किन्तु उसकी मानसिक स्थिति अन्य पशुओं से भिन्न है । मानसिक विकास के कारण अन्य पशुओं की तरह वह मात्र 'आहार-निद्रा-भय-मैथुन' आदि नैसर्गिक प्रवृत्तियों के सहारे ही जीवन-यापन करना नहीं चाहता है । वह चाहता है इनसे उठकर कुछ अन्य तत्वों को उपलब्ध करे । अपनी अलग पहचान बनाए । उसकी यह अदम्य इच्छा ही सँस्कृति को जन्म देती है । साहित्य, ललित-कलाएँ, अध्यात्म एवं धर्म तथा सामाजिक एवं सांस्कृतिक परम्पराओं का उत्स यही पाशविक मूल प्रवृत्तियों से परे उच्चतर स्थिति की उपलब्धि की कामना है । इसी कामना के कारण व्यक्ति, परिवार, समुदाय, समाज एवं राष्ट्र विभिन्न रीति-रिवाजों एवं परंपराओं की सर्जना करते हैं । ये परंपराएँ मनुष्य को, समुदाय को एवं राष्ट्र को अस्मिता, पहचान तथा संतोष एवं गर्व की

भावना देती हैं। जब परंपराएँ समाप्त हो जाती हैं तो वह समाज एवं राष्ट्र भी समाप्त हो जाता है। यही कारण है कि जब कोई समुदाय किसी देश में परिव्रजन करता है तो वह अपनी परंपराएँ भी वहाँ ले जाता है।

कुंभ-पर्व भारतीय व्यक्ति को भारत की समष्टि से जोड़ने की परंपरा का एक अंग है। वैज्ञानिक एवं औद्योगिक विकास सुख-सुविधा के नए उपादान तो जुटाता है किन्तु मनुष्य से मनुष्य को भावनात्मक रूप से जोड़ नहीं पाता। प्रचार एवं प्रसार के साधन यथा प्रेस, रेडियो एवं टेलिविज़न असम्पृक्त भाव से सूचनाओं का मात्र आदान-प्रदान करते हैं, उनके द्वारा मानव हृदय की ऊष्मा दूसरे व्यक्ति तक नहीं पहुँचाई जा सकती है। कुंभ-पर्व में राष्ट्र के कोने-कोने से आए व्यक्ति एक दूसरे से मिलते हैं, एक दूसरे से भावना की डोरी में बँधते हैं। उन्हें अनुभूति होती है कि वे अकेले नहीं हैं, उनके साथ एक बड़ा राष्ट्रीय समुदाय है जो उनकी आस्था एवं परंपराओं का भागीदार है। समष्टि से जुड़ने की यही लालसा तमाम कष्टों और कठिनाइयों के बावजूद मनुष्य को कुंभ-पर्व एवं हज प्रभृत विशाल मानव-संगम में भाग लेने के लिए प्रवृत्त करता है। इसकी प्रासङ्गिकता एवं उपादेयता इसी से स्पष्ट है कि जिन अत्याधुनिक एवं वैज्ञानिक दृष्टि से उन्नत राष्ट्रों में ऐसी परंपराएँ नहीं थीं, वहाँ समाज एवं राष्ट्र के नायक समरूप परंपराओं की स्थापना हेतु सचेष्ट हैं। यूरोप एवं अमेरिका में, मई-दिवस समारोह का आयोजन, विभिन्न उत्सवों पर कार्निवाल आदि का आयोजन, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की रैलियों का आयोजन एवं ओलम्पिक आदि प्रतिस्पर्धात्मक समारोहों का आयोजन मनुष्य की इसी कामना की पूर्त्ति हेतु किया जाता है। भारत में हमारे पूर्वज मनीषियों ने इसकी उपादेयता बहुत पहले ही आँक ली थी और इसका प्राविधान किया था और सामान्य जनसाधारण को इसमें भाग लेने के लिए प्रवृत्त करने हेतु उन्होंने इसे एक धार्मिक एवं आध्यातिमक स्वरूप प्रदान किया था। इस स्वरूप की निर्मिति हेतु ऋषियों ने समुद्र-मंथन एवं देवासुर संग्राम सदृश उपाख्यानों एवं मिथकों की कल्पना की।

यह धार्मिक एवं आध्यातिमक स्वरूप सामान्य मनुष्य को उसके दैनिक कठिनाइयों से ऊपर उठाकर एक दिव्यता का बोध देता है।

विभिन्न प्रकार की प्राकृतिक एवं सामाजिक विसंगतियों से पीड़ित गाँव-देहात के व्यक्ति को यह अवसर मिलता है कि अपने वह अवसादों एवं कुण्ठाओं से अलग हो गंगातट पर कुछ समय के लिए उन्मुक्तता की अनुभूति प्राप्त करे।

भारतीय संस्कृति लोकसंग्रही है। लोक के दो अर्थ हैं – प्रकाश एवं प्रकाश की भाँति सर्वव्यापी समाज। दोनों को एकत्र करने के लिए भारतीय मनीषियों ने विभिन्न ऋतु-पर्वों एवं परंपराओं की स्थापना की है। जन्म, विवाह एवं मृत्यु से संबंधित जितने भी रीति-रिवाज हैं सबमें लोकसंग्रह का तत्त्व है। तो फिर अमृत-तत्त्व के पर्व में विराट् लोकसंग्रह का विधान हो तो इसमें क्या अचरज ?

जब हम किसी परम्परा में निहित संदेश एवं गूढ़ अर्थ को भूल जाते हैं तब वह परम्परा हमें रूढ़िवादी एवं ढकोसले की चीज लगाने लगती है। पेड़-पौधों की पूजा, नदी की पूजा,-सर्प की पूजा, भूमि,-पूजा, पर्वतों की पूजा, माता-पिता की पूजा, गुरु की पूजा, अतिथि देव की पूजा, यह सब पुराणपंथी ढकोसले लगेंगे यदि इनमें सम्मिलित भावनाओं एवं विचारों की जानकारी न हो। आज पर्यावरण की सुरक्षा की चर्चा सर्वत्र है। विश्व भर में पर्यावरण के संबंध में लोगों को जागरूक बनाने के लिए तरह-तरह के आयोजन किए जा रहे हैं। वनों एवं वृक्षों के संरक्षण हेतु, वन्य पशुओं के संरक्षण एवं संवर्द्धन हेतु, पर्वत एवं भू-संरक्षण हेतु आज कानून बनाए जा रहे हैं, इनकी उपादेयता के सम्बंध में प्रचार-प्रसार किया जा रहा है। इसी सिद्धान्त को सर्व ग्राह्य बनाने के लिए भारतीय ऋषि-मुनियों ने इन्हें एक धार्मिक स्वरूप प्रदान कर दिया था।

पर्यावरण की सुरक्षा एवं सम्वर्द्धन के साथ-साथ इसमें हार्दिक कृतज्ञता की भावना भी जुड़ी हुई है। जड़-चेतन जिसने भी उपकार किया, भारतीय सँस्कृति ने उसे पूजनीय स्थान दिया। उपकार करने वालों में सर्वोपरि स्थान माता का है—'सहस्रं तु पितृन् माता गौरवेणातिरिच्यते (मनु०)। माता की भाँति ही जिन अन्य तत्वों ने भारतीयों पर उपकार किए, उन्होंने उसकी स्तुति मुक्त-कण्ठ से की। माँ की गोद से उतर कर व्यक्ति धरती की गोद में आता है। माँ की भाँति ही पृथ्वी सबका भरण-पोषण करती है अतः अथर्ववेद ने

"माता भूमिः पुत्रोऽहम् पृथिव्याः" कह कर उसके उपकार को स्वीकारा। जननी जन्म, भूमिश्च स्वर्गाऽदपि गरीयसी' कह कर भारतीयों ने उसकी महिमा गायी। गाय अपने उपकारों के फलस्वरूप गऊ-माता बन गई। इसी प्रकार नदियों ने भी भारत-भूमि पर अनन्त उपकार किए हैं। वे सहस्रों वर्षों से जोती-बोई जा रही भूमि को हर वर्ष पुनः उर्वर करती हैं, मनुष्यों और पशुओं को जीवनदायिनी जल देती हैं, भूगर्भ के जल-स्तर को संतुलित करती हैं, इसीलिए भारतीयों ने नदियों की माँ के रूप में, देवी के रूप में, वंदना की। इन नदियों में गंगा का उपकार सर्वोपरि है अतः उसे सर्वोच्च स्थान 'सुरसरि' कह कर दिया गया। जब तीर्थ यात्री गंगा में डुबकी लगाता है तो उसका उद्देश्य मात्र शरीर को साफ करना नहीं होता। वह गंगा के साथ एक होना चाहता है, प्रकृति के साथ जुड़ना चाहता है, अपनी जन्मभूमि के प्रेम की सरिता को धारा में डूबना चाहता है। इस जल को छूकर वह अपने पूर्वजों की शृंखला से जुड़ता है, अपने अतीत से जुड़ता है, अपने राष्ट्र से जुड़ता है।

हमारी संस्कृति में त्याग एवं राग दोनों का अद्भुत संतुलन एवं संयोग है। मर्यादा पुरुषोत्तम राम ने जहाँ देवदुर्लभ राज्य-लक्ष्मी का त्याग कर दिया वहाँ प्रेमवश प्रिया के कहने पर कपट मृग के पीछे धनुष-बाण लिए दौड़े गए—

त्यक्त्वा सुदुस्त्यज सुरेप्सित राज्य-लक्ष्मी,
धर्मिष्ठ आर्य वचसा यदगादरण्यम्।
माया मृगं दयितयेप्सित कन्वधावद्
वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्॥

इसी राग-विराग का ही विराट् रूप है कुम्भ-पर्व। लाखों तीर्थयात्री घर-गृहस्थी, धंधा-कारोबार की मोह-ममता एवं चिन्ता का त्याग कर कुंभ-स्थल पर अनजाने अन्य तीर्थ-यात्रियों से, साधक-तपस्वियों से, अपने पूर्वजों की परंपराओं से, गंगा से, राष्ट्रीयता से जुड़ते हैं। यहीं कुंभ की सार्थकता है। यही इसकी प्रासङ्गिकता है।

□□

परिशिष्ट अ

श्री नारायण भट्ट विरचित 'त्रिस्थलीसेतु:' में दिया गया प्रयाग राज-माहात्म्य—

1. प्रयाग के रक्षक—

षष्टिं-धनु:सहस्राणि यानि रक्षन्ति जाह्नवीम् ।
यमुनां: रक्षति सदा सविता सप्तवाहन: ।।
प्रयागं तु विशेषेण स्वयं रक्षति वासव: ।
मण्डलं रक्षति हरिर्दैवतै: सह संगत: ।।
तं वटं रक्षति शिव: शूलपाणिर्महेश्वर: ।
अधर्मेणाऽऽवृतो लोको नैव गच्छति तत्पदम् ।।
देवदानवगन्धर्वा ऋषय: सिद्ध चारणा: ।
सर्वे सेवन्ति तत्तीर्थे गंगायमुनसंगमम् ।।

(मत्स्य-पुराण)

2. संगम

पश्चिमाभिमुखी गङ्गा कालिन्द्या यत्र संगता ।
देवानां दुर्लभं तत्र चेतरेषां तु किं पुन: ।।
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म पर ब्रह्माभिधायकम् ।
तदेव वेणी विज्ञेया सर्व-सौख्यप्रदायिनी ।।
अकार: शारदा प्रोक्ता प्रद्युम्नस्तत्रजायते ।
उकारो यमुना प्रोक्ताऽनिरुद्धस्तज्जलात्मक: ।।
मकारो जाह्नवी गङ्गा तत्र संकर्षणो हरि: ।
एवं त्रिवेणी विख्याता वेदबीजं प्रकीर्तिता ।।

(ब्रह्म-पुराण)

3. प्रयाग-स्मरण-महिमा—

प्रयागं संस्मरन्नित्यं सहास्माभिर्युधिष्ठिर ।
स्वयं प्राप्स्यसि राजेन्द्र स्वर्गलोकं न संशय: ।।

(मत्स्य-पुराण)

नाममात्रस्मृतेर्यस्य प्रयागस्त्र त्रिकालत: ।
स्मर्तु: शरीरे नो जातु पापं वसति कुत्रचित् ।।

(स्कन्दपुराण)

4. **प्रयाग-दर्शन-महिमा—**

दर्शनात्तस्य तीर्थस्य नामसंकीर्तनादपि ।
मृत्तिकाल मनाद्वाऽपि नरः पापात्प्रमुच्यते ।।

(कूर्म-पुराण)

गंगायमुनयोर्योगो ज्ञेयस्तत्राप्यनुत्तमः ।
यस्य दर्शन मात्रेण नरा यान्ति परां गतिम् ।।

(नारद-पुराण)

5. **प्रयाग-वास-महात्म्य—**

प्रयागमनु-गच्छेत् वा वसते वाऽऽपि यो नरः ।
सर्वपाप विशुद्धात्मा रुद्रलोकं स गच्छति ।।

(मत्स्य-पुराण)

ब्रह्महत्यादि पापानां प्रायश्चितचिकीर्षुणा ।
प्रयागं विधिवत्सेव्यं द्विजवाक्यान्न संशयः ।।

(स्कन्द-पुराण)

6. **मुण्डन-माहात्म्य—**

प्रयागे वपनं कुर्याद्गयायां पिण्डपातनम् ।
दानं दद्यात्कुरुक्षेत्रे वाराणस्यां तनुं त्यजेत् ।।
किं गया पिण्डदानेन काश्यां वा मरणेन किम् ।
कुरुक्षेत्रे च दानेन प्रयागे वपनं यदि ।।

(काशी खण्ड)

7. **स्नान-महिमा—**

एतत्प्रजापतिक्षेत्रं त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ।
अत्र स्नात्वा दिवं यान्ति ये मृतास्तेऽपुनर्भवा : ।।

(कूर्म-पुराण)

प्रयागस्नानतो नास्ति क्वाप्यन्यदधिकं परम् ।
प्रायश्चितं तपोरूपं दानरूपं क्रियादिकम् ।।

(पद्म-पुराण)

8. **माघ-स्नान-महिमा—**

सितासिते तु ये स्नाता माघमासे युधिष्ठिर ।
न तेषां पुनरावृत्तिः कल्पकोटिशतैरपि ॥

(कूर्म पुराण)

स्नाता हि ये माकर भास्करोदये
तीर्थं प्रयागे सुरसिन्धुसंगमे ।
तेषां गृहद्वारमलंकरोति
भृङ्गावलिः कुञ्जर-कर्ण-ताडिता ॥

(विष्णु-पुराण)

9. **अलर्क-महिमा—**

कम्बलाश्वतरौ नागौ यमुना दक्षिणे तटे ।
तत्र स्नात्वा च पीत्वा च मुच्यते सर्वपातकै : ॥

(कूर्म-पुराण)

तपनस्य सुता देवी त्रिषु लोकेषु विश्रुता ।
समागता महाभागा यमुना यत्र निम्नगा ॥
तत्र स्नात्वा च पीत्वा च यमुनायां युधिष्ठिर ।
कीर्तनाल्लभते पुण्य दृष्टवा भद्राणि पश्यति ॥

(मत्स्य-पुराण)

□□

परिशिष्ट आ

प्रयाग-स्थित तीर्थों की नामावली

1. अन्तर्वेदी के तीर्थ

शूलटङ्केश्वर - वट वृक्ष से दश हाथ उत्तर।
तिलभाण्डेश्वर—शूलटङ्केश्वर से पश्चिम।
साक्षीविनायक—तिलभाण्डेश्वर के पास।
आदि गणेश—वट वृक्ष के समीप।
गौरीगणेश—वट वृक्ष के समीप।
कुलस्तम्भ—किले के अन्दर।
ललिता देवी—अक्षय वट के समीप।
ललितेश्वर शिव—वट के पश्चिम।
सूर्यकुण्ड—वट के पश्चिम।
आदिवेणीमाधव—जलरूप से त्रिवेणी-संगम में।
घृतकुल्या, मधुकुल्या—संगम से पश्चिम यमुना में।
निरञ्जन तीर्थ—घृतकुल्या के पश्चिम।
आदित्यतीर्थ—मधुकुल्या के पश्चिम।
ऋणमोचन तीर्थ—किले के नीचे तट पर।
पापमोचन तीर्थ—ऋणमोचन तीर्थ से आगे।
परशुराम तीर्थ—किले के नीचे सरस्वती कुण्ड पर।
गोघट्टन तीर्थ—मनकामेश्वर से पूर्व यमुनाजी में।
गोघट्टन तीर्थ -(दूसरा मुट्ठीगंज के पास)
पिशाचमोचन तीर्थ—गोघट्टन तीर्थ से आगे।
काम तीर्थ - मनकामेश्वर मन्दिर के नीचे यमुना तट पर।
कपिल तीर्थ, इन्द्रेश्वर शिव—कामतीर्थ से आगे।
तक्षक तीर्थ, तक्षकेश्वर शिव—दरियाबाद में यमुना के किनारे।
कालियह्रद—तक्षकतीर्थ के पास।
चक्रतीर्थ—बरगद घाट पर।

सिन्धुसागर तीर्थ—(गङ्गासागर घाट)— ककरहा घाट के पास।
पांडवाश्रम—पांडवकूप— सिन्धुसागर से उत्तर अटाले से पूर्व।
अत्रीअनुसूयाश्रम—अतरसुइया महाल में।
भरद्वाजाश्रम— कर्नलगंज में।
गौतमाश्रम—विश्वामित्राश्रम से उत्तर में।
जमदग्नि आश्रम—गौतमाश्रम से उत्तर में।
वशिष्ठाश्रम—जमदग्नि आश्रम से उत्तर में।
(इसी प्रकार वरुणाश्रम से वायु आश्रम तक 88 आश्रम हैं।)
उच्चैःश्रवाश्रम—भरद्वाजाश्रम से पूर्व गंगा तट पर।
बासुकी नाग— दारागंज से उच्चैःश्रवाश्रम से पूर्व।
भोगवती कुण्ड—वासुकी के नीचे गंगाजी के पक्के घाट में।
ब्रह्मकुण्ड—वासुकी से (दक्षिण) गंगा के पश्चिम में।
लक्ष्मीतीर्थ— गंगा के पश्चिम में।
विश्वामित्राश्रम—भरद्वाजाश्रम के उत्तर में।
महोदधि तीर्थ— लक्ष्मीतीर्थ से दक्षिण में।
दशाश्वमेध घाट—दारागंज में।
मलापह तीर्थ—महोदधि से दक्षिण में।
उर्वशी कुण्ड—मलापह से दक्षिण में।

शक्र तीर्थ
विश्वामित्र तीर्थ
वृहस्पति तीर्थ
अत्रि तीर्थ
दत्तात्रेय तीर्थ
दुर्वासा तीर्थ
सोम तीर्थ
सारस्वत तीर्थ

} दशाश्वमेध घाट से अक्षयवट तक ये तीर्थ हैं।

मध्यवेदी के तीर्थ

सोमतीर्थ, सोमेश्वर शिव—अरैल में।
सूर्यतीर्थ—सोमतीर्थ से पश्चिम में।
कुबेरतीर्थ, वायुतीर्थ, अग्नितीर्थ— सूर्यतीर्थ से पश्चिम में।

वीरतीर्थ, चक्रमाधवतीर्थ, यमतीर्थ, वरुणतीर्थ, रामतीर्थ सीताकुण्ड
हनुमानतीर्थ—सोमेश्वर के मन्दिर से आदिमाधव के मन्दिर तक गंगा-यमुना की जलधारा में।
उर्वशीतीर्थ शूलटंकेश्वर से आगे।
सुधारसतीर्थ—शूलटंकेश्वर से आगे।
कम्बलाश्वरतीर्थ—सुधारस के दक्षिण यमुनातट पर नैनी में।
विकरक्षेत्र—बीकर गाँव में।
बहुमूलक स्थान—विकरक्षेत्र से उत्तर में।
भार्गव, गालव, चामर आदि ऋषि स्थान—बहुमूलक से उत्तर में।
कोटितीर्थ—शिवकोटि, गंगाजी के दक्षिण तट पर।

बहिर्वेदी के तीर्थ

मानसतीर्थ—गंगा के उत्तरतट पर नई झूँसी से २॥ कोस।
यज्ञतीर्थ - मानसतीर्थ के तट पर।
अरुन्धती तीर्थ - यज्ञतीर्थ से दक्षिण।
उर्वशीतीर्थ—अरुन्धती तीर्थ से दक्षिण।
हंसतीर्थ—उर्वशी तीर्थ से दक्षिण।
कालकूल, हंसकूप—हंसतीर्थ से दणिण।
शाल्मलीतीर्थ—कालकूप से दक्षिण।
ब्रह्मकुण्ड - शाल्मली तीर्थ के पास।
हंसपत्तन तीर्थ—ब्रह्मकुण्ड के पीछे।
नलतीर्थ—ब्रह्मकुण्ड से आगे दक्षिण में।
ऐलतीर्थ, इलेश्वर शिव—नलतीर्थ से आगे।
समुद्रकूप—ऐलतीर्थ के आगे।
व्यासतीर्थ—समुद्रकूप से आगे दक्षिण में।
नागतीर्थ, नागेश्वरनाथ शिव—छतनाग के पास।

द्वादय-माधव तीर्थ

शङ्ख-माधव—छतनाग में।
चक्र-माधव—अरैल में।
गदामाधव—नैनी में।

पद्ममाधव—वीकर देवरिया में ।
अनन्तमाधव—अक्षयवट के पास ।
विन्दुमाधव—द्रौपदीघाट के पास ।
मनोहरमाधव—चौक, द्रव्येश्वरनाथ के मन्दिर में ।
अशिमाधव—नागवासुकी के पास ।
सङ्कटहरमाधव—सन्ध्यावट के नीचे ।
आदिवेणीमाधव-जलरूप से त्रिवेणी-संगम में मंदिर दारागंज में ।
आदिमाधव—अरैल में ।
वटमाधव—वट के मूल में ।

□□
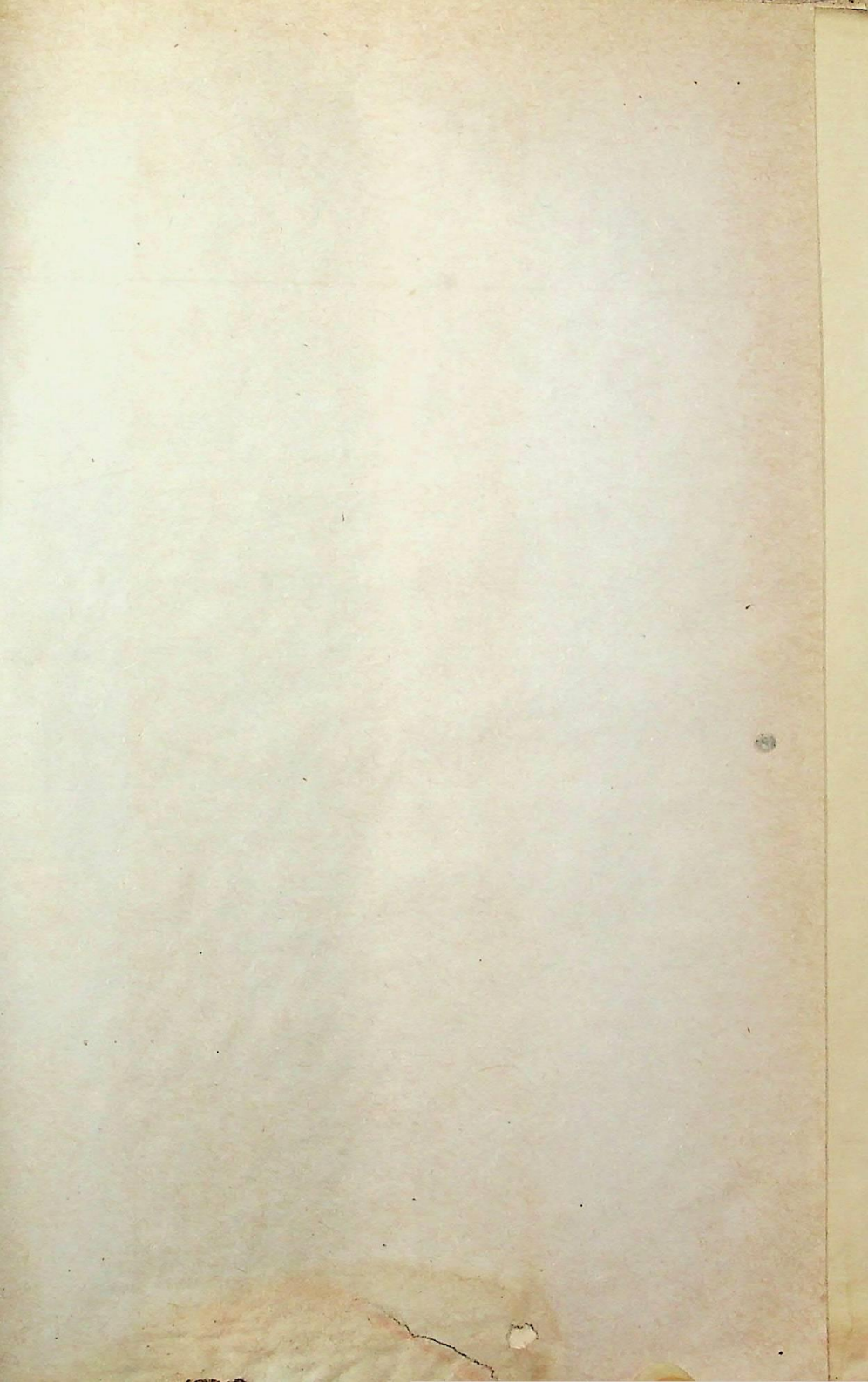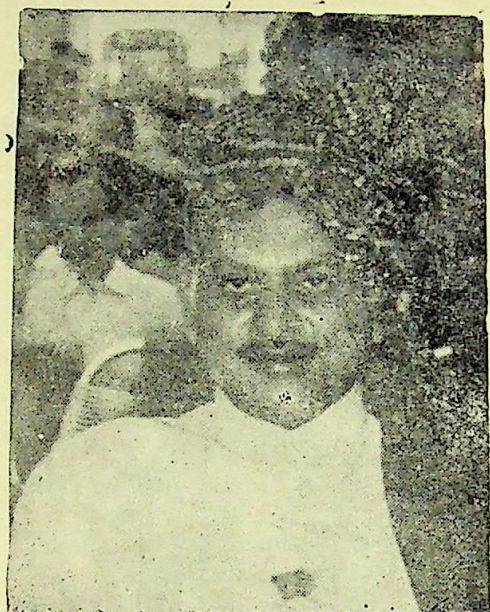
त्रिनाथ मिश्र : जन्म 30 दिसम्बर 1942 को गुमला (बिहार) जिले के एक गाँव कुरडेग में। प्रारम्भिक शिक्षा नेतरहाट विद्यालय (पलामू) में। पटना कालेज से इतिहास में बी० ए० आनर्स के पश्चात् रूहेलखण्ड विश्वविद्यालय से इतिहास में एम० ए०। पारिवारिक पांडित्यपूर्ण वातावरण से लेखन के प्रति विशेष रुचि। वैदिक साहित्य में विशेष अभिरुचि।

1965 में भारतीय पुलिस सेवा में चयन। 1976-77 के कुम्भ-मेला प्रयाग के वरिष्ठ पुलिस अधीक्षक। भारत सरकार में प्रति-नियुक्ति पर सी० बी० आई० एवं बी० एस० एफ० में भी कार्य। 1983 से पुलिस उप-महानिरीक्षक के पद पर कार्य-रत।

स्वभाव से मृदु परन्तु अनुशासन से कठोर। रुचियों में पर्वता-रोहण, विशेषकर हिमालय यात्रा, संगीत, अध्यात्म एवं पुरातत्व।

विभिन्न विभागीय पत्रिकाओं में अनेकों लेख प्रकाशित। 'कुंभ-गाथा' पुस्तकाकार पहली कृति।

सम्प्रति : इलाहाबाद परिक्षेत्र के पुलिस उप-महानिरीक्षक।

आवरण मुद्रक : पियरलेस प्रिन्टर्स 1, बाई का बाग, इलाहाबाद–3